विवेक-ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

विवेकानन्द आश्रम

रायपुर

वर्ष १
अंक ३

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जुलाई – सितम्बर, १९६३

सम्पादक-मंडल

स्वामी आत्मानन्द,

सन्तोषकुमार झा, रामेश्वरनन्द

संचालक	व्यवस्थापक
स्वामी आत्मानन्द	रामेश्वरनन्द

विवेकानन्द आश्रम,

रायपुर (मध्य प्रदेश)

फोन नम्बर. १०४६

विवेक-ज्योति नियमावली

वार्षिक चन्दा ४) एक अंक का १)

ग्राहकों के लिए----

१. 'विवेक-ज्योति' जनवरी, अप्रैल, जुलाई और अक्तूबर महीनेमें प्रकाशित होती है। इसका वार्षिक चन्दा मनीआर्डर से भेजना चाहिए। पिछली प्रतियाँ बाकी रहने पर ही भेजी जा सकती हैं।

२. ग्राहकों को पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक-संख्या, नाम और पता स्पष्ट अक्षरों में लिखना चाहिए।

३. यदि कोई अंक न मिले, तो डाकखाने में पहले पूछ-ताछ करनी चाहिये। जिस अवधि का अंक न मिला हो उसी अवधि में सूचना प्राप्त होने पर, अंक की प्रति बची रहने पर ही भेजी जायगी।

४. यदि पता बदल गया हो, तो उसकी सूचना तुरन्त दी जानी चाहिए।

लेखकों के लिए----

१. 'विवेक-ज्योति' आध्यात्मिक, धार्मिक, सांस्कृतिक लेख तो रहेंगे ही, पर शिक्षा, मनोविज्ञान, कला, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, विज्ञान प्रभृति महत्वपूर्ण विषयों पर जीवन के उच्चतर मूल्य सम्बन्धी लेख भी उसमें प्रकाशित किए जायेंगे। उसी प्रकार उच्च भावों की प्रेरणा देने वाले ऐतिहासिक और राष्ट्रीय चरित्रों के लिए भी इस त्रैमासिक में स्थान रहेगा। सुसंस्कृत अभिरुचिपूर्ण कविता, विशिष्ट दृष्टिकोण से लिखे गये यात्रा-प्रसंग तथा पुस्तकों की समीक्षा को भी इसमें स्थान प्राप्त होगा।

२. किसी प्रकार की व्यक्तिगत या विघातक टीका के लिए 'विवेक-ज्योति' में स्थान न रहेगा।

३. लेख में प्रतिपादित मत के लिए लेखक ही जिम्मेदार रहेगा।

४. लेख को प्रकाशन के लिए स्वीकृत करने पर उसकी सूचना एक माह के भीतर दी जायगी। अस्वीकृत रचनाएँ आवश्यक टिकट प्राप्त होने पर ही वापस की जायेंगी।

५. यदि लेख एक अनुवाद हो, तो लेखक को साथ में यह भी सूचना देनी चाहिए कि अनुवाद की आवश्यक अनुमति ले ली गयी है।

६. कागज के एक ही ओर सुवाच्य अक्षरों से लिखे जायँ।

७. लेख सम्बन्धी पत्र-व्यवहार सम्पादक से करना चाहिए।

८. पुस्तक की समीक्षा के लिए उसकी दो प्रतियाँ भेजनी चाहिये।

विज्ञापन देने के लिए--

'विवेक-ज्योति' में विज्ञापन की दरें निम्नलिखित हैं-
हर बार-पूरा पृष्ठ ४०), आधा पृष्ठ २५), एक चौथाई पृष्ठ १५)

कव्हरपृष्ठ पर या अन्य किसी विशेष स्थान पर यदि विज्ञापन देना है, तो उसके लिए निम्नलिखित पते पर पत्र व्यवहार करें :—

व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय

विवेकानन्द आश्रम, ग्रेट ईस्टर्न रोड, रायपुर।

अनुक्रमणिका

प्रकाशक :

स्वामी आत्मानन्द विवेकानन्द आश्रम

ग्रेट ईस्टर्न रोड, रायपुर (मध्यप्रदेश)

"न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते"

विवेक-ज्योति

श्री रामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष १] जुलाई—१९६३—सितम्बर [अंक ३

वार्षिक चन्दा ४) ❀ एक प्रति का १)

दुःख-निवृत्ति कब ?

यदा चर्मवत् आकाशं
वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा देवम् अविज्ञाय
दुःखस्यान्तो भविष्यति ।।

—"जिस समय मनुष्य आकाश को चमड़े के समान लपेट लेंगे, उस समय परमात्मा को बिना जाने भी दुःखों का अन्त हो जायगा ।" तात्पर्य यह है कि, जैसे आकाश को चमड़े के समान लपेटना असम्भव है, उसी प्रकार परमात्मा को बिना जाने दुःखों का अन्त असम्भव है ।

—श्वेताश्वतर उपनिषद्, ६/२०

शरणागति

सीता की खोज करते-करते राम और लक्ष्मण पम्पा सरोवर के तीर पर पहुँचे। निर्मल, शीतल जल देखकर उनकी स्नान करने की इच्छा हुई। वल्कल उतारकर तीर पर रख दिया और हाथ का बाण बालू में गड़ाकर वे जल में उतरे। स्नान के बाद प्रस्थान करने के समय राम ने जब अपना गड़ा हुआ बाण ऊपर खींचा, तो आश्चर्य और खेद के साथ उन्होंने देखा कि बाण का फल रक्त से भीगा हुआ है! नीचे की बालू हटाने पर देखा गया कि एक मेंढक मुमूर्षु अवस्था में पड़ा हुआ है। करुणाविगलित कण्ठ से राम ने मेंढक से कहा, "भाई, यों तो तुम जोर-जोर से टर्र-टर्र करते रहते हो। जब मेरे बाण का फल तुम तक पहुँचा, तो तुम चिल्लाये क्यों नहीं? मैं जान तो जाता कि नीचे तुम हो, मैं बाण दूसरी जगह गड़ाता!" बुझे-बुझे स्वर में मेंढक ने उत्तर दिया, "राम, जब मुझ पर विपत्ति आती है, तब रक्षा के लिए मैं 'राम' 'राम' कहकर चिल्लाया करता हूँ। पर जब मैंने देखा कि राम स्वयं मुझे मार रहे हैं, तब किसका नाम लेकर चिल्लाता! इसीलिए चुप रहा!"

यथार्थ भक्त सुख और दुःख दोनों को भगवान् की इच्छा मानकर सन्तुलित बुद्धि से जीवन-यापन करता है। उसके लिए यदि सुख प्रभु का वरदान है, तो दुःख उससे महत्तर वरदान है। वह दुःख में ईश्वर को कोसता नहीं, वरन् दुःख को भी प्रभु की इच्छा जानकर अपने मंगल का ही कारण समझता है। यही यथार्थ शरणागति का भाव है।

क्या दूर हो सकता है?

मेरे एक मित्र हैं। साथ-साथ महाविद्यालयीन शिक्षा पायी। वे किसी महाविद्यालय में प्राध्यापक नियुक्त हुए। बीच में उनसे भेंट हुई। वे अपना रोना रोने लगे। उन्हें अपने पद से सन्तोष न था। विद्यार्थी-जीवन में शैक्षणिक जीवन उन्हें बहुत पसन्द था। वे कहा करते कि वे तो प्राध्यापक ही बनेंगे। पर एक वर्ष की नौकरी में ही वे उकता गये। 'प्राचार्य बड़े पक्षपाती हैं। लड़के बदमाश हैं। पढ़ाने नहीं देते। शिक्षकों की कोई इज्जत नहीं है। जीवन बड़ा दुखमय हो गया है।' ये कतिपय वाक्य थे, जो प्रायः उनके अधरों पर आते रहते थे। इस दुःखपूर्ण जीवन से बचने के लिए उन्होंने सोचा कि आई. ए. एस. सरीखी परीक्षाओं में बैठा जाय, तो ठीक रहेगा। मेधावी तो थे ही। आई. ए. एस. की परीक्षा में चुनकर आगये। उनकी नियुक्ति भी किसी अच्छे स्थान में हुई। उसके तीन वर्ष बाद उनसे भेंट हुई। सोचा था कि वे अब तो सुख के सागर में डूबे होंगे, पर उनके वार्तालाप से ऐसा लगा कि जीवन का सारा दुःख उन्हीं में सिमट आया है।' भाई, क्या बताऊँ' उन्होंने कहा, 'तुम्हें ऐसा लगता होगा कि मैं बड़े मजे में हूँ। पर सच कहूँ, सन्तान का अभाव हरदम हृदय को सालता रहता है। विवाह हुए आज आठ वर्ष हो गये, पर सन्तान-सुख न मिला। पत्नी भी उदास रहा

करती है। तरह-तरह के उपाय किये, पर कोई फल न हुआ। इधर घर के लोग मुझ पर बड़ा जोर डाल रहे हैं कि मैं दूसरा विवाह करलूँ। बड़ी मुश्किल है। जीवन दूभर हो उठा है।' और इतना कहकर वे सिसकियाँ भरने लगे। मुझे भी दुःख हुआ। उन्हें समझाया, जितना मुझसे बन पड़ा। दूसरी बार विवाह करने के सम्बन्ध में उनके पूछने पर मैंने यही सलाह दी कि बनते तक दूसरा विवाह न किया जाय।

पाँच वर्ष बीत गये। इस बीच सुना कि उनके चार सन्तानें हुई हैं। अचानक कहीं पर उनसे भेंट हो गयी। मैंने आशा की थी कि अब वे बड़े प्रसन्न होंगे। पर इस बार भी मेरी धारणा गलत निकली। वे अभी भी दुःखी थे, और बड़े दुःखी थे—इसलिए कि उनके एक भी पुत्र न था, चारों कन्याएँ थीं। उनकी और भी कई शिकायतें थीं। जिस जिले में उनकी नियुक्ति हुई थी, वहाँ 'स्टैण्डर्ड' शिक्षालय एक भी न था। भले ही वहाँ शासकीय महाविद्यालय भी था, पर ये सब विद्यालय उनके लिए बहुत ही निम्न स्टैण्डर्ड के थे। बच्चों की पढ़ाई की बड़ी कठिन समस्या थी, यद्यपि उनकी सबसे बड़ी बच्ची केवल चार वर्ष की ही थी!

यह एक उदाहरण है। हममें से प्रत्येक इसी प्रकार का है। हम नये-नये दुःखों को जन्म देते रहते हैं और इसलिए जीवन दुखमय मालूम पड़ता है। हम अच्छे से अच्छे पद में रहें, पर एक नया अभाव हमारे सामने

खड़ा हो जाता है और हमें दुःख देता रहता है। जिसके पास धन नहीं है, वह धनी को देखकर ईर्ष्या से जलता-भुनता रहता है और जो धनी है, वह अपने धन का उचित उपभोग नहीं कर पाता। मैं एक ऐसे करोड़पति को जानता हूँ जिसने चिन्ता के मारे सात दिन तक अन्न नहीं खाया। कोई मुकद्दमा चल रहा था और उसका केस बिगड़ता जा रहा था। पाँच लाख रुपये डूबने वाले थे। वह करोड़पति, जिसके पास सुखभोग और ऐश्वर्य के एक से एक बढ़कर सामान थे, पेट भर खाना तक न खा सका। इतनी चिन्ता, इतना दुःख! निष्कर्ष यही निकला कि केवल धनवान होना ही दुःखनाश की कसौटी नहीं है। जिसके पास कुबेर का भण्डार है, वह अपनी दुर्बल हाजमाशक्ति को लेकर परेशान है। तन्दुरुस्त व्यक्ति को देखकर वह ठण्डी साँसें लेने लगता है कि भगवान् ने उसे भी तन्दुरुस्ती क्यों न दी। दुनियाँ की सारी दवाइयाँ, सारे विटामिन, सारे इन्जेक्शन उसके इर्द-गिर्द पड़े रहते हैं, एक से एक चिकित्सक उसकी सेवा में हाथ बाँधे खड़े रहते हैं, पर स्वास्थ्य है कि सुधरने का नाम नहीं लेता। रात भर पेट में गैस उठता रहता है और नींद तो मालूम नहीं कब एक लम्बे अरसे से गायब हो चुकी है। नींद की हजारों गोलियाँ पेट में जा चुकी होंगी, पर ऐसा लगता है कि गोलियों ने नींद को ही पचा डाला है। किन्तु दूसरी ओर वह मजदूर है, जो दिन भर पसीना बहाता रहता है। तब कहीं उसे आधा पेट भोजन मिल

पाता है। पर जब वह सोता है, तो उसे पता नहीं चलता कि रात कब बीती। धनवान एक अभाव से पीड़ित है, तो निर्धन दूसरे अभाव से। यह अभाव, यह लालसा, यह तृष्णा ही सारे दुःखों की जड़ है। हम भले ही सम्पन्न हों, पर हमारी प्रकृति ऐसी है कि अभाव उसका एक अंग बन जाता है। आज यदि हमारे पास पन्द्रह हज़ार की कार है, तो कल इसलिए दुःख होता है कि दूसरे की कार पचीस हज़ार की है। जीवन में एक नया अभाव उत्पन्न हो जाता है और हमें टीस देता रहता है। अभाव की कोई मर्यादा नहीं। यदि हम ऐसा सोचें कि मुझे बस इतना मिल जाय तो मेरे दुःख दूर हो जायेंगे—तो यह एक भूल धारणा है। मुझे वह अभीप्सित वस्तु प्राप्त होते ही दूसरी एक नयी वस्तु का अभाव खटकने लगता है। ययाति ने उचित ही कहा है महाभारत में—

न जातु कामः कामानाम् उपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

—"कामनाओं का उपशम उनके भोग से नहीं होता, प्रत्युत जैसे घी डालने पर अग्नि और भी प्रज्वलित हो जाती है उसी प्रकार कामनाएँ भी उपभोग से क्षीण होने की बजाय तीव्र और प्रबल हो जाती हैं।"

ययाति का यह चित्रण कितना मनोवैज्ञानिक है! कितना मार्मिक है! जीवन का यह एक महान् सत्य है, जिसके प्रति हम अपनी आँखे मींच लेते हैं। मनुष्य सोचता

है कि वृद्धावस्था में इन्द्रियाँ जर्जर हो जायेंगी, शरीर शिथिल पड़ जायगा, तो स्वभाविक ही कामनाएँ अपने आप दूर हो जायेंगी। अतः युवावस्था में संयम की रास क्यों खींचें? पर मूर्ख मानव यह नहीं समझता कि वृद्धावस्था में कामनाएँ और भी प्रबल हो जाती हैं। भले ही उस अवस्था में इन्द्रियाँ जर्जर हो जाती हों, पर लालसा बूढ़ी नहीं होती। वह अवस्था यों है जैसे रसनाहीन व्यक्ति के सम्मुख उत्तमोत्तम खाद्य पदार्थ रख देना। वह भोग तो करना चाहता है पर शारीरिक असमर्थता के कारण उसकी इच्छा पूरी नहीं हो पाती। सामने भोग्य वस्तुओं को ललचायी दृष्टि से देख रहा है, पर शरीर में बल न होने के कारण उसे उन वस्तुओं के उपभोग से वंचित रह जाना पड़ता है। वह ऐसी अवस्था है जहाँ हम विषयों का उपभोग नहीं करते, वरन् विषय ही हमारा उपभोग करते हैं; हम तृष्णा को नहीं चूसते, प्रत्युत तृष्णा ही हमें चूस लेती है। ययाति हमें इसी तथ्य के प्रति जागरूक करना चाहते हैं। वे अपने अनुभवों के बल पर मानव की दुर्बलताएँ समझते हैं। मनुष्य सोचता है कि अमुक अभाव की पूर्ति होने पर उसका जीवन सुखमय हो जायगा। पर ययाति इस तर्क को ग्राह्य नहीं करते। वे जानते हैं कि जीवन में अभाव की कड़ी कभी समाप्त नहीं होती। इसीलिए निश्चयात्मक स्वर से कहते हैं—

> यत् पृथिव्यां व्रीहि यवं हिरण्यं पशवस्स्त्रियः।
> एकस्यापि न पर्याप्तं तस्मात् तृष्णां परित्यजेत्॥

—"पृथ्वी का सारा अनाज, समस्त सोना, सारे हीरे-मोती आदि बहुमूल्यवान पदार्थ, सम्पूर्ण पशुधन और सारी स्त्रियाँ एक व्यक्ति के लिए भी पर्याप्त नहीं होतीं। इसलिए तृष्णा का त्याग करना चाहिए।"

बड़ी विचित्र बात है! ययाति कहते हैं कि संसार के सकल विषयभोग एक व्यक्ति को भी पूरे न पड़ेंगे-मनुष्य की तृष्णा इतनी प्रबल है! मनुष्य उसके हाथों क्रीतदास है, कठपुतली है। संयम की रास न खींचने वाला दुर्मति अपनी इन्द्रियरूपी उद्दण्ड घोड़ों द्वारा मारा जाता है। वह सुख की खोज में निकला था, पर दुःख उसके हाथ लगता है। कारण यह है कि उसे सुख और दुःख की पहचान नहीं है। वह दुःख को ही सुख समझे बैठा है। ऊपर से इन्द्रियों को प्रिय लगने वाले पदार्थों को ही वह सुख का कारण मान लेता है। क्षणिक सुखप्रद संवेदनाओं को ही वह सुख का उत्स मान लेता है। वह इस पर मनन नहीं करता कि अभी जिसे मैं सुखकर मानता हूँ, वही थोड़ी देर बाद दुःख-कर हो जाता है। उदाहरणार्थ, रसगुल्ले मुझे बहुत पसन्द हैं। रसगुल्ले खाने से मुझे बहुत सुख मिलता है, मेरी रस-नेन्द्रिय परितृप्त हो जाती है। ठीक है मेरे सामने बहुत से रसगुल्ले रख दिये गये। मैं उनका भक्षण करता हूँ। परम सुख की अनुभूति होती है। पेट भर गया। अब और रस-गुल्ले खाने का जी नहीं होता। यदि किसी के आग्रह से एक रसगुल्ला और खा लेता हूँ, तो मितली आती है। रसगुल्ले की थाल की ओर देखने मात्र से उबकाई आती

है। अब यहाँ पर हमें विचार करना चाहिए कि यदि रस-गुल्ला खाने में ही सुख था, तो फिर उसका परिणाम दुःख कर क्यों होता है ? क्रिया के स्वभाव में यह परिवर्तन क्यों ? यदि हम विचार करें तो देखेंगे कि इन्द्रियां के प्रत्येक उपभोग्य विषय के साथ यही होता है। उपभोग के पहले सुख की मानसिक संवेदना होती है, उपभोग के समय वह मानसिक संवेदना हमें सुख का आभास देती रहती है और उपभोग के पश्चात् वह मानसिक संवेदना शैथिल्य, उबकाई और उस भोग्य विषय के प्रति अरुचि में बदल जाती है। उस समय तो ऐसा लगता है कि अब रसगुल्ला कभी नहीं खाऊँगा या उस भोग्य विषय के प्रति कभी आकृष्ट न होऊंगा; पर दूसरे ही दिन अरुचि गायब हो जाती है शैथिल्य दूर हो जाता है और हम पहले के ही समान भोगों के पीछे दौड़ने लगते है। हमारे समूचे जीवन की यही कहानी है। हम जानकर भी अजाने बने रहते हैं, देखकर भी देखना नहीं चाहते। यही दुःख का मूल कारण है। यही कारण है कि सुख को पकड़ने का हमारा प्रत्येक प्रयास हमारे सिर पर दुःख की मार दे जाता है। इसीको 'अविवेक' कहते हैं। खुजली हो गयी है। खुजलाना बड़ा अच्छा लगता है। हम खुजलाते हैं। सुख की अनुभूति होती है। पर क्षण भर बाद खुजली में जलन होने लगती है। अब खुजलाने की प्रत्येक क्रिया हमें असीम जलन प्रदान करती है। खुजली पर उँगली तक नहीं रखी जा सकती। इतना दाह, इतनी पीड़ा होने लगी उसमें। हम खुजलाना

छोड़ देते हैं। थोड़ी देर बाद पुनः खुजलाहट उठती है। हम जानते हैं कि खजलाना पीड़ा को निमंत्रण देना है, दो क्षण की सुखानुभूति हमें दो घंटे तक जलन और टीस देती रहेगी। पर यह जानना निरर्थक हो जाता है। हम दो क्षण की सुखानुभूति में बह जाते हैं। इसी को 'अविवेक' कहते है। यह अविवेक ही सारे दुःखों की जड़ है। ऐसे अविवेकी को ययाति 'दुर्मति' कहते हैं। ऐसे दुर्मतियों को तृष्णा अपने सुदृढ़ पाशों में जकड़ लेती है। ययाति का अनुभव देखिए—

> या दुस्त्यजा दुर्मतिभिः या न जीर्यति जीयतः।
> योऽसौ प्राणान्तिको रोगः तां तृष्णां त्यजतः सुखम्॥

—"यह तृष्णा एक प्राणान्तक रोग है। मनुष्य भले जीर्ण हो जाय, पर वह जीर्ण नहीं होती। दुर्मतियों के लिए इसका त्याग बड़ा कठिन है। पर यदि जीवन में सुख चाहिए, तो इस तृष्णा का त्याग करना ही पड़ेगा।"

ययाति सुख की प्राप्ति का यही उपाय बताते हैं। शास्त्र सम्मत पथ भी यही है। जिनका जीवन यथार्थ सुख की प्राप्ति से धन्य हो उठा है, वे भी यही बात कहते हैं।

पर यहाँ पर एकआशंका उठायी जाती है। एक वर्ग ऐसा है जो कहता है कि यदि तृष्णा का त्याग कर दिया जाय, तो जीवन में कोई प्रगति ही नहीं हो सकती। वे एक पुरानी कहावत का हवाला देकर कहते हैं कि आवश्यकता ही आविष्कारों की जननी है। बिना आवश्यकता

की अनुभूति के मनुष्य आगे नहीं बढ़ सकता। यदि मनुष्यों को आवश्यकता को मिटाने की शिक्षा दी जाय, तो मानव-जीवन का विकास ही रुक जाय।

यह एक उचित प्रश्न है। हम भी इस तथ्य से सहमत हैं कि आवश्यकता की अनुभूति बिना संसार आगे न बढ़ पाता, बड़े-बड़े वैज्ञानिकों के अभूतपूर्व, अश्रुतपूर्व आविष्कार हमारे सम्मुख न आ पाते। पर हम ऐसे प्रश्न करनेवालों से पूछना चाहेंगे कि क्या उपर्युक्त तृष्णा और अन्वेषण की प्रवृत्ति दोनों एक हैं ? हम चाहेंगे कि वे तृष्णा और अन्वेषण का अर्थ अच्छी तरह समझ लें, लालसा और जिज्ञासा के भेद को जान लें। तृष्णा में नवीनता नहीं होती। पुराने अनुभवों को बारम्बार दुहराने की प्रवृत्ति ही तृष्णा कही जाती है। वह किसी ज्ञान को जन्म नहीं देती। एक बार जिस विषय का उपभोग प्रारम्भ में क्षणिक ऐन्द्रिय सुख की संवेदना देकर परिणाम में हमें विष के घूँट पिलाता है, उसके प्रति बारम्बार आकृष्ट होना ही तृष्णा कहलाता है। तृष्णा के पाशों से जकड़े हुए व्यक्ति की दशा उस गाय के समान होती है, जिसे ग्वाला हाथ में पुआल लेकर ललचा रहा है। पुआल के लोभ से गाय दौड़ी आती है और पुआल में मुँह देती है कि ग्वाले का डंडा गाय की पीठ पर बरस पड़ता है। गाय अकुलाकर पीछे हट जाती है। ग्वाला पुनः पुआल दिखाता है और गाय पिछली मार को भूलकर पुआल की ओर खिंच आती है। यही तृष्णा की

उपमा है। इसमें किसी नवीन तथ्य का आलोक नहीं है। और आविष्कार क्या है? वह है नवीनता की खोज, नये तथ्य के उद्घाटन का प्रयास। यह ज्ञान की प्रक्रिया है। वह तृष्णाके अन्तर्गत नहीं आता।

एक शिक्षक हैं, जो यह कहते नहीं अघाते कि उन्हें चालीस वर्ष का अनुभव है—पढ़ाने का। जहाँ भी जायेंगे जिससे भी बात करेंगे, यह कहना न भूलेंगे कि उन्हें पढ़ाने का चालीस साल का अनुभव है। एक दिन गोष्ठी जमी थी। शिक्षा पर प्रसङ्ग उठा, तो वे शिक्षक महोदय भी अपने सुझाव देने को व्यग्र हो उठे। अपने अनुभव की बात बताना वे न भूले। खीझकर एक सदस्य कह उठे, "क्या रट लगा रखी है—चालीस साल के अनुभव की! यों कहो, एक साल का अनुभव है और उसी को उनतालीस बार दुहराते रहे हो!" बड़ी अद्भुत बात कह दी उन सदस्य महोदय ने! ठीक ही तो है। मनुष्य दुहराने को ही अनुभव समझता है। लोग कहते हैं कि उन्हें दुनिया का साठ साल का तजुरबा है। पर क्या उनका यह कहना ठीक है? जो तजुरबा उन्हें अपनी उम्र के सोलहवें-सत्रहवें या चौबीसवें-पचीसवें साल में हुआ होगा, उसी को वे शेष आयु भर दिन-पर-दिन, महीने-पर-महीने, वर्ष-पर-वर्ष दुहराते रहते हैं। यही तृष्णा की कहानी है। पर अन्वेषणशील प्रवृत्ति पुराने का त्याग करना सिखाती है। यदि कोई आविष्कार हुआ, तो अन्वेषणशील मन उस आविष्कार को काटना या उससे ऊपर उठ जाना चाहता

है। अतः, तृष्णा का त्याग करने के विरुद्ध यह जो दलील दी जाती है कि उससे आविष्कार का मार्ग अवरुद्ध हो जायगा, वह लचर है।

और थोड़ी देर के लिए यदि यह मान भी लिया जाय कि तृष्णा के ही फलस्वरूप संसार की इतनी प्रगति हुई है, तो क्या ऐसी प्रगति वांछनीय है ? आज हम किस प्रकार की प्रगति देखते हैं ? अशान्ति की, युद्ध की विभीषिका की, अनगिनत लड़ाई-झगड़ों की, स्वार्थों की टक्कर की, घूसखोरी और कालाबाजारी की, अनैतिकता की। माना को सुख के साधन भी हमें उपलब्ध हुए हैं, पर दुःख के साधनों की तो जैसे बाढ़ ही आ गयी है। यदि गणित की भाषा का प्रयोग करें तो कह सकते हैं कि यदि आज सुख के साधनों की वृद्धि समान्तर श्रेणी (Arithmetical Progression) के न्याय से हुई है, तो दुःख के साधन समगुणितान्तर श्रेणी (Geometrical progression) के न्याय से बढ़े हैं। यह भी क्या प्रगति है? साधनों की प्रगति से संसार की प्रगति का मूल्यांकन नहीं होता, बल्कि वह तो मनुष्य की प्रगति पर आधारित रहता है। आधुनिक युग में अविवेक ही बढ़ा है और इसीलिए दुःख भी बढ़े हैं।

तो क्या दुःखों को दूर नहीं किया जा सकता ? यह एक विकट प्रश्न है। संसार जब तक अस्तित्व में है, तब तक सुख और दुःख दोनों बने रहेंगे। वे मानो एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। ऐसी अवस्था इस जीवन में कभी

नहीं आयेगी, जब केवल सुख ही सुख रहे और दुःख बिलकुल मिट जाय। तब फिर दुःखों के नाश का क्या तात्पर्य है? यह जो धर्म दुःखनिवृत्ति की बात करता है उसका क्या अर्थ है?

जिस प्रकार सुख और दुःख मन की अवस्थाएँ हैं, उसी प्रकार दुःख निवृत्ति भी मन की ही अवस्था है। हमें मन की यह अवस्था अभ्यास से प्राप्त करनी होती है। यह अभ्यास किस तरह किया जाता है? सुनो, श्रीरामकृष्ण क्या कहते हैं? "बड़े घर की दासी के समान रहो।" यही उपाय है। यही अभ्यास है। बड़े घर की दासी बाबू का सारा काम-काज करती है। बाबू के बच्चे को नहलाती है, सँवारती है, भोजन कराती है, घुमाने ले जाती है, 'मेरा राजा बेटा' कहकर दुलार करती है। यदि बाबू का बच्चा कहीं पर गिर पड़े, तो दासी 'मेरा लल्ला', 'मेरा मुन्ना' कहती हुई दौड़ पड़ती है, बच्चे को उठा लेती है, उसे पुचकारती और प्यार करती है। पर वह अपने मनमें यह खूब जानती है कि वह उसका लल्ला, उसका मुन्ना, उसका राजा बेटा नहीं है। वह यह खूब जानती है कि उसका लल्ला, उसका मुन्ना, उसका राजा बेटा झोपड़ी में पड़ा रो रहा होगा। दासी यह अच्छी तरह जानती है कि बाबू जिस दिन नोटिस दे देंगे, उस दिन से वह घर की दहलीज पर भी पैर न रख सकेगी। जिसे आज 'मेरा लल्ला', 'मेरा मुन्ना', 'मेरा राजा बेटा' कह कर गोद में उठाती है, उसे तब छू भी न सकेगी।

तो क्या अपने बाबू के बच्चे के प्रति दासी यह जो प्रेम प्रदर्शित करती है, वह सब दिखावा है ? नहीं, वह दिखावा नहीं है। दासी सचमुच बच्चे को प्यार करती है। पर उस प्यार में आसक्ति नहीं है। आसक्ति न होने का कारण यह है कि उसमें बच्चे के प्रति मेरा-पन नहीं है, ममत्व नहीं है। इससे सिद्ध हुआ कि ममत्व, मेरा पन या आसक्ति के बिना भी प्रेम सम्भव है, और वही यथार्थ प्रेम है। आसक्तिविरहित ऐसा ही प्रेम हमें दुःख से ऊपर उठाने की शक्ति रखता है।

इसीलिए, श्रीरामकृष्ण उपाय बताते हैं—"बड़े घर की दासी की तरह रहो।" घर-गृहस्थी है, स्त्री-पुत्र-कलत्र हैं—कोई दोष नहीं। सोचो कि वे सब भगवान् के दिये हैं अतएव भगवान् के हैं। सबको अपना कहो, प्रेम दिखाओ सब के प्रति। पत्नी को 'मेरी प्रिये' कहो, पति को 'मेरे प्रियतम' कहो, बच्चों को 'मेरे लाल' 'मेरी मुन्नी' कहो—कोई दोष नहीं, पर हृदय के अन्तरतम प्रदेश से यह जानो कि वास्तव में इनमें से कोई भी मेरा नहीं है, सब भगवान् के हैं। जिस दिन भगवान् का नोटिस आयेगा, कोई मेरा न रह जायगा, सब मुझे छोड़कर चले जायेंगे या मैं ही सबको छोड़कर चला जाऊँगा। वास्तव में यदि कोई मेरा अपना है, तो वे हैं ईश्वर। यदि कोई मेरी अपनी झोपड़ी है, तो वह है प्रभु के चरण। यह ज्ञानदीप भीतर जलाये रखो। यही संसार में रहने का रहस्य है। इसी ज्ञान से दुःख की निवृत्ति होती है। यही

'बड़े घर की दासी के समान' संसार में रहना है। मन पर इस विचारधारा का बारम्बार संस्कार डालना ही अभ्यास कहलाता है।

जब यह अभ्यास सध जाता है, तब सब कुछ ईश्वर-मय हो जाता है। किसी प्रियजन की मृत्यु हो गयी—वह भी ईश्वर की इच्छा है। यदि किसी कार्य में सफलता मिली तो वह ईश्वर की इच्छा है। यदि कोई कार्य न सधा तो वह भी भगवान् की इच्छा है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि ऐसा साधक निश्चेष्ट हो जाय, आलसी बन जाय, अकमर्ण्य होकर कहने लगे कि प्रयत्न से क्या होगा, सब कुछ तो ईश्वरेच्छा पर निर्भर है। प्रत्युत इसका अर्थ यह है कि साधक क्रियाशील बने, प्रबल कर्मपरायण हो। यदि कोई मृत्यु की शय्या पर पड़ा हो, तो उसे बचाने के लिए अथक प्रयत्न करे और अगर न बचा सके तो कहे कि ईश्वर की इच्छा है। कार्य की सिद्धि के लिए जी-तोड़ परिश्रम करे, पर यदि सफल काम न हो तो कहे कि ईश्वर की इच्छा है। यही रसायन है, जो दुख पर मरहम का काम करता है। हम अपना सारा उत्तरदायित्व ईश्वर पर सौंप देते हैं। इसीलिए हमें दुःख नहीं व्यापता। मुनीम साहूकार के व्यापार को चमकाने की अथक चेष्टा करता है। यदि साहूकार को घाटा आ गया, तो मुनीम दुखित अवश्य होता है पर घाटे का दुःख उसे व्याप नहीं पाता; क्योंकि घाटा या लाभ उसका नहीं है, वह साहूकार का है। उसी प्रकार, संसार मेरा नहीं, ईश्वर का

है; परिवार मेरा नहीं, ईश्वर का है; मैं तो मात्र एक मुनीम हूँ, भृत्य हूँ। यह भक्तियोगी की, कर्मयोगी की भाषा है।

मन की इस अवस्था में सुख और दुःख अपनी रेखाएँ मन पर नहीं खींच पाते। इस अवस्था को प्राप्त हुआ पुरुष न सुख में स्पृहा रखता है, न दुख में उद्विग्न होता है। गीता ने ऐसे पुरुष को 'स्थितधीः', स्थितप्रज्ञ', 'योगी' इत्यादि नामों से पुकारा है। इसी स्थिति में मनुष्य को यथार्थ शान्ति का अनुभव होता है। शान्ति न सुख में है, न दुख में। वह तो इन दोनों से परे की बात है। वास्तव में, यह जो मनुष्य दिन-रात सुख के पीछे पागल है, वह शान्ति की ही खोज में पागल है। वह भ्रम-पूर्वक सोचता है कि सुख की वृत्ति में शान्ति मिलेगी। वास्तविक शान्ति चतुर्थ अवस्था में प्राप्त होनेवाली अनुभूति का फल है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीन सामान्य अवस्थाएँ हैं, जो प्रत्येक जीव को सुलभ हैं। पर चतुर्थ—तुरीय की—अवस्था सुलभ नहीं है। वह साधनसापेक्ष है। मानव-जीवन का ध्येय इसी चतुर्थ अवस्था की प्राप्ति है। 'शान्तं शिवम् अद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते'—वही चतुर्थ अवस्था शान्त है, शिव (मंगलमय) है, अद्वैत है। यह शास्त्र की वाणी है। इस चतुर्थ अवस्था को ही लोग ईश्वर, परमात्मा, देव, प्रभु, जगन्नियन्ता आदि नामों से पुकारते हैं।

चतुर्थ अवस्था का ज्ञान ही आध्यात्मिक विज्ञान कहाता है। जैसे विज्ञान के प्रयोगों को सिद्ध करने की

विधिवत् प्रणालियाँ होती हैं, उसी प्रकार तुरीयावस्था को प्राप्त करने की भी विधियाँ हैं, अनुभूत नियम हैं ये विधियाँ और नियम किसी व्यक्ति विशेष का विशेषाधिकार नहीं हैं, प्रत्युत वे सबके लिए समान रूप से सुलभ हैं। जो भी वैज्ञानिक रीति से उनका परीक्षण करना चाहेगा, उसी को उस परीक्षण का फल मिलेगा। वह फल क्या है ?—दुःखों की निवृत्ति। यह ज्ञानयोगी की भाषा है।

यदा चर्मवयाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥

दुःखों की निवृत्ति का केवल यही एकमात्र उपाय है—'नान्यः पन्था विद्यते अयनाय'—दूसरा कोई मार्ग नहीं है, नहीं है।

स्वामी विवेकानन्द

श्रीमत्स्वामी गम्भीरानन्दजी

(इस स्तम्भ के अन्तर्गत भगवान् श्रीरामकृष्ण के संन्यासी एवं गृहस्थ शिष्यों के जीवन-चरित पाठकों के समक्ष क्रमशः प्रस्तुत किये जायेंगे । मूल बंगला ग्रन्थ 'श्रीरामकृष्ण-भक्तमालिका' स्वामी गम्भीरानन्दजी द्वारा लिखा गया है । प्रस्तुत लेख उसी में से लिया गया है ।)

श्रीरामकृष्ण ने एक समय कहा था, "एक दिन मैंने देखा कि मन ज्योतिर्मय रास्ते से समाधिपथ में ऊँचा उठा जा रहा है । उसने सहज ही चन्द्र, सूर्य और तारकामण्डित स्थूल जगत् को पार कर लिया और क्रमशः सूक्ष्म भाव-राज्य में प्रविष्ट हुआ ।...मैंने देखा कि बहुत से देवी-देवताओं की भावघन विचित्र मूर्तियाँ रास्ते के दोनों ओर अवस्थित हैं ।...मन धीरे-धीरे अखण्ड के राज्य में प्रविष्ट हुआ । सामने सात प्राचीन ऋषि समाधिस्थ बैठे दिखाई पड़े । ऐसा लगा कि ज्ञान और पुण्य, त्याग और प्रेम में ये लोग, मानवों की क्या बात, देवी-देवताओं को भी पीछे छोड़ आये हैं । आश्चर्यचकित होकर क्या देखता हूँ कि सामने अखण्ड के राज्य का जो एकरस ज्योतिर्मण्डल है, उसका एक अंश घनीभूत होकर दिव्य शिशु के रूप में

परिणत हो गया। वह अद्भुत देवशिशु असीम आनन्द प्रकट करता हुआ उनमें से एक ऋषि से कहने लगा, 'मैं चलता हूँ, तुम्हें मेरे साथ आना होगा।'....नरेन्द्र को देखते ही मैं समझ गया कि यह वही ऋषि है।" कहने की आवश्यकता नहीं कि श्रीरामकृष्णने ही धराधाम में अवतरित होने के पूर्व अखण्ड के राज्य में सच्चिदानन्दघन-ज्योतिर्म्व रूप उस देवशिशु का रूप धारण किया था; और उन्होंने ध्याननिमग्न जिस ऋषि के गले में प्रेमपूर्वक अपनी कोमल भुजाएँ लपेट, उनका ध्यान तोड़ते हुए उन्हें अपने लीला सहचर के रूप से धराधाम में आने का साग्रह आमंत्रण दिया था, वे ही विश्वविख्यात स्वामी विवेकानन्द थे। ये युग्म आत्मा ही युग-युग में नारायण और नर-ऋषि के रूप में जगत् में अवतीर्ण होकर धर्मका संस्थापन करते हैं।

कलकत्ता महानगरी में सिमुलिया मुहल्ला है। वहाँ के अधिवासी श्रीयुत दुर्गाचरण दत्त संस्कृत और फारसी भाषाओं में विशेष अधिकार रखते थे। उनके पिता राममोहन दत्त कानून-व्यवसायी थे और उन्होंने अपनी कमाई पूँजी से दत्त-वंश को विशेष समृद्धशाली बना दिया था। किन्तु दुर्गाचरण का मन सांसारिक भोगों में लिप्त न हुआ। वे पचीस वर्ष की ही उम्र में अपनी पत्नी और अपने एक मात्र पुत्र विश्वनाथ को छोड़कर घर से निकल गये और संन्यास ले लिया। धीरे-धीरे विश्वनाथ बड़े हुए। पिता की भाँति उनमें भी अनेक भाषाओं के प्रति अनुराग दिखने लगा और इतिहास के प्रति भी वे विशेष रूप से

आकृष्ट हो गये। पर उनमें दुर्गाचरण का वैराग्य-भाव नहीं था। उनकी प्रवृत्ति स्वभाव से संसारी थी। वे भी कानून का व्यवसाय करते। एटर्नी के रूप में उनकी आय खासी थी। वे पाकशास्त्र में पारंगत थे और नित्य नये-नये व्यंजन बनाया करते थे। दूसरों को अपने हाथ के व्यंजन खिलाकर उन्हें सन्तोष प्राप्त होता था। उनका एक और शौक था। घूमना उन्हें बहुत पसन्द था। अपने उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों के भ्रमणकाल में वे उच्च स्तर की इस्लामी संस्कृति के सम्पर्क में आये थे और उसकी ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुए थे। धर्म के सम्बन्ध में उनकी अपनी धारणा थी। उनका मत था कि ईसा की बाइबिल और हाफिज की गजलों में जो तत्त्व भरे पड़े हैं, उनकी अपेक्षा उत्कृष्टतर तत्त्व और कहीं नहीं हैं। विश्वनाथ की पत्नी भुवनेश्वरी देवी भी अपने पति के ही समान बुद्धि-मती, कार्यपटु और रूपवती थीं। उनका धर्मानुराग अनुपम था। इतने बड़े परिवार का बोझ वे कुशलता से धारण किये हुए थीं। उनकी देखरेख में किसी को किसी बात का अभाव न था। इतनी कर्मव्यस्तता के बीच भी वे सिलाई आदि का काम अपने हाथों से करतीं और नियमित रूप से रामायण-महाभारत आदि ग्रन्थों का पाठ करती थीं। विविध उपायों से उनके ज्ञान का भण्डार समृद्ध हुआ था और उनसे बातचीत करते ही प्रतीत होता था कि यह अल्पभाषिणी महिला बड़ी सुशिक्षित हैं, सुरुचिसम्पन्न और महारानी के समान तेजस्वी हैं। उनका

स्वभाव गम्भीर था, पर हृदय प्रेम से भरा हुआ था।

भगवान् ने इस दम्पति को चार कन्याएँ दी थीं, जिनमें दो की मृत्यु अल्प वयस में हो गयी। इस कारण माता भुवनेश्वरी के चित्त में शान्ति न थी। वे इसलिए भी चिन्तित रहतीं कि उनके कोई पुत्र न था। वे अपनी यह वेदना प्रातः-सन्ध्या अपने इष्टदेवता के चरणों में निवेदित करतीं। काशीधाम में उनके नाते की कोई वृद्धा रहती थीं। उस वृद्धा को उन्होंने पत्र लिखा कि वह प्रतिदिन वीरेश्वर शिव के मन्दिर में उनकी वंश-रक्षा के निमित्त उनकी ओर से पूजा चढ़ा आया करे और उनकी इच्छा की पूर्ति की प्रार्थना निवेदित करे। इस प्रकार काशीधाम में पूजा चलने लगी और इधर भुवनेश्वरी देवी भी नित्य शिवपूजा और शिवध्यान में संलग्न हो गयीं। अन्त में, दीर्घ तपस्या के बाद एक दिन जब वे समूचा दिन मन्दिर में योगिराज महादेव के ध्यान में बिताकर लौटीं, तो रात्रि में उन्होंने स्वप्न में देवाधिदेव योगयोगीश्वर आशुतोष, औढरदानी शंकर को पुत्ररूप में अपने सम्मुख उपस्थित देखा। उसके बाद से उनकी अपूर्व अंगकान्ति और लावण्य को देखकर पड़ोसिनें भी कहने लगीं कि अबकी बार शिव उनकी चिरकाल की साध को पूर्ण करेंगे। यथा समय १२ जनवरी १८६३ ई० सोमवार के दिन सूर्योदय के किंचित् पश्चात्, ६ बजकर ४९ मिनट पर, भुवनेश्वरी देवी की गोद को आलोकित करता हुआ भुवनविजयी नवल भानु उदित हुआ। स्वप्न की बात का

स्मरण करके माता ने पुत्र का नाम वीरेश्वर रखा। शुभ अन्नप्राशन के समय उसका नाम रखा गया नरेन्द्रनाथ। नरेन्द्र ही आगे चलकर विश्वविख्यात विवेकानन्द हुए। पर अपने घर में बालक वीरेश्वर 'बिले' नाम से ही परिचित हुए।

यह सुन्दर बालक परिवार के सदस्यों के दुलार में दिन पर दिन चन्द्रकला की तरह बढ़ने लगा। वह ज्यों-ज्यों बढ़ने लगा, उसकी चंचलता भी त्यों-त्यों बढ़ने लगी। उसकी नटखटी सभी को परेशान कर देती। उसे डर दिखाओ, डाँटो या ताड़ना करो, पर किसी से कुछ फल नहीं होता था। पुत्र के क्रोध और अभिमान को देखकर माता भुवनेश्वरी दुःखपूर्वक कह उठीं, "कितने कष्ट से शिवजी को प्रसन्न करके एक पुत्र की कामना की थी, तो उन्होंने अपना एक भूत ही मेरे पास भेज दिया!" बहुत सोच-विचार कर माता ने अपने पुत्र को वश में लाने की एक औषध खोज निकाली। जब भी बिले क्रोधित होता, माता उसके शिर पर जल उड़ेल देती अथवा भय दिखाती, "यदि तू शरारत करेगा, तो शिव तुझे अपने पास कैलास में न आने देंगे।" आश्चर्य की बात कि इसका फल महौषध की भाँति तुरत होता था।

नरेन्द्र के शरीर की बनावट बहुत-कुछ उनके पितामह दुर्गाचरण की भाँति थी। इससे कई लोगों की यह धारणा थी कि दुर्गाचरण ही शरीर छोड़ने के बाद नरेन्द्र के रूप

में फिर से आ गये हैं। और यही नहीं, बालक का मन भी पितामह के मन की तरह था। घर में किसी साधु-सन्यासी के भिक्षा माँगने आते ही नरेन्द्र उसकी ओर दौड़ आते और जो कुछ याचना की जाती, उसे घर से तुरत लाकर दे देते। वे इस काय के लिए किसी की अनुमति की अपेक्षा नहीं करते थे, किसी के मना करने पर भी नहीं मानते थे। एक दिन बालक नरेन्द्र नया कपड़ा पहिन सबको गर्व के साथ अपनी पोशाक दिखा रहा था कि इतने में दरवाजे के पास आवाज आयी 'नारायण हरि'। साधु की आवाज सुनते ही बालक वहाँ चला गया। साधु ने वस्त्र की याचना की और बालक ने अम्लान मुख से अपना नया कपड़ा उतारकर उसके हाथों में रख दिया। उस छोटे कपड़े को पहनना साधु के लिए सम्भव न था इसलिए उसे सिर में लपेट कर वह चला गया। यद्यपि साधुओं के प्रति विश्वनाथ श्रद्धाहीन नहीं थे, तथापि इस घटना के बाद से नरेन्द्र को साधुओं के निकट नहीं जाने दिया जाता था। पर बालक नटखट तो था ही। यह जानते ही कि साधु आया है वह मकान के ऊपर से दूसरों की आँखें बचाकर वस्त्रआदि फेंक दिया करता था,और इसी में उसे गर्वऔर आनन्द का अनुभव होता कि उसने अपने अभिभावक को कैसा छकाया है! कभी-कभी उसकी शरारत से उसकी बहनें इतनी परेशान हो जातीं कि उसे पीटने के लिए दौड़ पड़तीं। नरेन्द्र भागकर नाली अथवा घूरे में खड़ा हो जाता और मुँह बना-

बनाकर चिढ़ाता, "लो, पकड़ो न; पकड़ो न।" जीव-जन्तुओं के प्रति नरेन्द्र का स्वाभाविक प्रेम था। बन्दर, बकरा, मयूर, काकातुआ, कबूतर और कुछ विलायती चूहे उसके प्रिय सखा थे। एक गाय उसके प्रेम की विशेष अधिकारी थी। पिता के घोड़ों को भी नरेन्द्र का प्यार मिला था। उस युग में कलकत्ते में फिटनों का रिवाज था। फिटन में कोचबक्स पर कोचवान बैठा है और अकड़ के साथ चाबुक घुमाता हुआ, चाबुक की आवाज करता हुआ वेग से बग्घियों में जुत सबल घोड़ों को हाँक रहा है—यह दृश्य बालक नरेन्द्र को बहुत पसन्द था और उसकी इच्छा होती कि कहीं वह भी इसी प्रकार एक स्वतंत्र कोचवान हो पाता। एक दिन बग्घी में माता की गोद में बैठे बालक नरेन्द्र से पिता ने पूछा, "क्यों बिले, बड़ा होने पर तू क्या बनेगा?" बालक ने तुरन्त उत्तर दिया, "सईस अथवा कोचवान।" नरेन्द्र का अधिकांश समय घुड़साल में बीतता था। अतः इसमें आश्चर्य नहीं कि चंचल सबल बालक की आँखों में दुर्जय घोड़ों को वश में रखना एक आकर्षक व्यापार मालूम होता था।

रामायण में नरेन्द्र ने राम-सीता की कथा पढ़ी थी। उनके प्रति बालक के हृदय में असीम श्रद्धा का भाव भर गया था। एक दिन अपने पड़ोसी एक ब्राह्मणकुमार की सहायता से नरेन्द्र बाजार से राम-सीता की मिट्टी की मूर्ति मँगा लाये और छत के कमरे में दरवाजा बन्द कर पूजा में बैठ गये। दोनों बालक ध्यानस्थ हो गये। इधर

नीचे खोज मची हुई थी कि नरेन्द्र गया कहाँ। अन्त में बालक को कहीं न पा वे लोग छत पर आये। देखा कि कमरा अन्दर से बन्द है। बलपूर्वक दरवाजा खोला गया। ब्राह्मणकुमार डर के मारे वहाँ से नौ दो ग्यारह हुआ, और लोगों ने विस्मित हो देखा कि नरेन्द्र प्रगाढ़ ध्यान में लीन हुए बैठे हैं।

किन्तु सीता-राम पर बालक की श्रद्धा अधिक दिन न टिक सकी। उनके अस्तबल में एक सईस था, जिससे नरेन्द्र की बहुत पटती थी। सईस के बारे में बालक की धारणा थी कि वह सब कुछ जानता है। एक दिन उस सईस ने किसी प्रसंग में नरेन्द्र से कह दिया, "विवाह करना बड़ा खराब है।" यह सुनकर बालक विषम समस्या में पड़ गया। एक ओर तो उसने माता के मुख से सीता-राम की वह अलौकिक प्रेम कहानी सुनी थी जिसने युग-युगान्तर से हिन्दूमात्र को घोर संसार-अरण्य में पथ प्रदर्शित किया है, और दूसरी ओर संसार तापदग्ध यह विश्वासी सईस है जो आज ऐसे विकट सत्य का उद्घाटन कर रहा है! बालक के भीतर भयानक द्वन्द्व मच गया। वह अश्रुभरे नयनों से माता के पास गया और अपनी समस्या रखी। माता स्नेहपूर्वक हँसकर बोलीं, "तो उससे क्या हुआ, बिले? तू शिवपूजा कर।" सन्ध्या के समय नरेन्द्र छत के कमरे में गये और सीताराम की मूर्ति को उठाकर बाहर छत पर आ गये। सन्ध्या के अन्धकार में थोड़ी देर तक चुप-चाप मूर्ति की ओर देखते रहे और अन्त में लम्बी साँस

छोड़ते हुए उन्होंने मूर्ति को उठाकर नीचे रास्ते पर फेंक दिया। गिरकर मूर्ति चूर-चूर हो गयी। दूसरे दिन श्मशानवासी संन्यासी शिव आकर राम सीता के आसन पर विराजमान हो गये।

एक दिन माता ने देखा कि बालक शिव-चिन्तन में मग्न हो कमर में गेरुए वस्त्र का टुकड़ा कोपीन के समान लपेटकर घूम रहा है। माता पूछ बैठीं, "यह क्या रे?" बाल-संन्यासी ने उल्लास से कहा, "मैं शिव जो हो गया!" यद्यपि नरेन्द्र अभी बालक ही थे, तथापि वे स्वभाव से ही ध्यानसिद्ध थे। उन्होंने बड़े-बूढ़ों के मुख से सुना था कि ऋषि-मुनि ध्यान में इतने तन्मय हो जाते थे कि उनकी जटाएँ लम्बी होकर वट की जड़ों की भाँति भूमि में घुस जाती थीं। ध्यान में बैठकर नरेन्द्र देखते कि उनके साथ भी वैसा हो रहा है या नहीं। ध्यान के समय उनकी जटा भले ही भूमि में प्रवेश न करे, पर उनका मन किसी अजाने राज्य में अपने आपको खो बैठता था। एक दिन कुछ संगी बालकों को साथ ले नरेन्द्र ध्यान में बैठे हैं कि इतने में कहीं से भयंकर नाग निकल आया और अपना फन फैलाकर नरेन्द्र के बाजू से बैठ गया। यह देखते ही साथ के बालकगण भय से चिल्लाकर भाग खड़े हुए। पर नरेन्द्र बाह्यज्ञान शून्य थे! बालकों की चीख सुनकर लोग दौड़े आये और दृश्य को देखकर भय और विस्मय से स्तब्ध हो गये। कुछ क्षण बाद विषधर सर्प अपने आप ही कहीं

चला गया। तब कहीं लोगों के प्राणों में प्राण आया। विद्यार्थी जीवन की और एक दिन की घटना है। नरेन्द्र बन्द कमरे में ध्यान में बैठे थे कि अचानक उन्होंने देखा, सामने मुण्डितकेश एक शान्त सौम्य ज्योतिर्मय पुरुष हाथ में दण्ड-कमण्डलु ले खड़े हैं और मानो कुछ कहना चाहते हैं। पर उस प्रशान्त मूर्ति को थोड़ी देर देखते ही नरेन्द्र को भय-सा लगा और वे कमरे से बाहर आ गये। सम्भव है, उस दिन उन्होंने बुद्धदेव के दर्शन किये हों। नरेन्द्र की नींद भी एक अलौकिक बात थी उन्हें उल्टा सोने का अभ्यास था। जब वे सोते, तो उनके आँखें मूँदते ही एक ज्योतिर्बिन्दु सामने उपस्थित हो जाता था और विविध रंगों में बदलकर, बड़ा होकर अचानक फूट जाता था और चारों दिशाएँ आलोक से भर जाती थीं उस ज्योति के समुद्र में डूबते-डूबते नरेन्द्र सुषुप्ति में चले जाते थे। बाद में जब वे श्रीरामकृष्ण के सम्पर्क में आये और जब श्रीरामकृष्ण को यह बात बतलायी गयी, तो उन्होंने कहा था कि वह ध्यानसिद्ध का लक्षण है।

छः वर्ष की उम्र में नरेन्द्र का पाठशाला जाना आरम्भ हुआ। पर पिता ने देखा कि नरेन्द्र ने दो ही चार दिन में अपने सहपाठियों से बहुत से कोष के बाहर के शब्द सीख लिये हैं। अतः उन्होंने नरेन्द्र का पाठशाला जाना बन्द करा दिया। उसके बाद से नरेन्द्र की शिक्षा घर पर ही होने लगी। नरेन्द्र का पढ़ाई का तरीका अद्-भुत था। वे आँखें मूँदे लेटे रहते और गुरु महोदय पाठ

बताते जाते थे। बस इसी से नरेन्द्र का पाठाभ्यास हो जाता था। उस समय रामचन्द्र दत्त के पिता नरेन्द्र के मकान में रहते थे और नरेन्द्र रात्रि में उनके समीप सोते थे। वृद्ध दत्त महाशय की यह धारणा थी कि बाल्यकाल में कठिन विषय सहज ही कण्ठस्थ हो जाता है। इसलिए वे प्रति रात्रि नरेन्द्र को मुग्धबोध व्याकरण का थोड़ा सा अंश मौखिक रूपसे पढ़ाया करते थे। इस प्रकार एक वर्ष में नरेन्द्रनाथ ने उस पुस्तक का अधिकांश भाग याद कर लिया था।

नेतृत्व नरेन्द्र का जन्मजात गुण था संगियों के साथ राजा-प्रजा का खेल खेलते समय वे राजा की भूमिका ग्रहण करते और मन्त्री एवं सेनापति आदि को आदेश देकर विभिन्न कार्यों में नियोजित करते थे। डाकू का फैसला सुनाते हुए मन्त्रियों को आज्ञा देते, "दुष्ट का सिर काट दो।" सुनते ही वह दुष्ट तीरके समान दत्त-बाड़ी का सदर दरवाजा पार करके सिर पर पैर रखकर दौड़ने लगता और उसके पीछे-पीछे रक्षकगण दौड़ पड़ते। इस हो-हल्ले से दोपहर की नींद में अलसाये सेवकगण चमककर उठ जाते और बालकों को उनकी शरारत का मजा चखाने के लिए वे भी उनके पीछे दौड़ने लगते। इधर सिंहासन पर बैठे नरेन्द्र को यह सारा खेल बड़ा मजेदार मालूम होता था।

अपने साथियों के प्रति नरेन्द्र का प्रेम शत रूपों में प्रकट होता था। एक दिन की घटना है। वे किसी साथी

के साथ चड़कतला से महादेव की मूर्ति खरीदकर आ रहे थे। अँधेरा हो चला था। इतने में अचानक एक घोड़ा-गाड़ी तेज दौड़ती हुई समीप आ गयी। नरेन्द्र ने मुड़कर देखा कि उनका साथी घोड़ों के पैर तले पड़ा ही चाहता है। उन्होंने झट महादेव को बायीं बगल में दबाया और तुरत बालक के समीप आ उसे हाथ से खींच लिया। नरेन्द्र की प्रत्युत्पन्नमति से साथी के प्राण बचे। एक और घटना है। नरेन्द्र तब सात-आठ वर्ष के थे। वे अपने दल के साथ लखनऊ के नवाब वाजिदअली शाह की मेटेबुरुज-स्थित पशुशाला देखने के लिए चाँदपालघाट पर आकर नौका में बैठे। वापस लौटने के समय एक बालक ने जो, नौका चढ़ने का अभ्यस्त नहीं था, नौके में उल्टी कर दी। माँझी ने बालकों से उसे साफ कर देने के लिए कहा। बालकों ने उसे पैसा देकर कहा कि वह किसी दूसरे से साफ करा ले। पर माँझी न माना और बालकों को खरी-खोटी सुनाने लगा। जब नौका तीर के निकट आयी तो वह उन लोगों को डर दिखाते हुए कहने लगा कि जबतक वे उसकी नौका साफ न करेंगे, तब तक वह नौका को घाट पर नहीं लगायेगा। बातों की लड़ाई धीरे-धीरे मार-पीट पर उतरने लगी कि इतने में अवसर पाकर नरेन्द्रनाथ नौके से कूदकर घाट पर आ गये। दल में वे ही सबसे छोटे थे। उन्होंने देखा कि दो गोरे सैनिक मैदान की ओर जा रहे हैं। वे दौड़े-दौड़े सैनिकों के पास आये और उनका हाथ पकड़कर इशारे और अपनी टूटी-फूटी अँगरेजी के

सहारे अपने साथियों पर आयी विपत्ति की बात बतायी। वे गोरे सैनिक इस छोटे से सुन्दर बालक के आकर्षण से खिंचकर घटनास्थल पर आये और अपने हाथ के बेत को कँपाते हुए माँझी को आदेश दिया कि वह बालकों को छोड़ दे। माँझी ने बिना चूँ किये बालकों को तीर पर पहुँचा दिया।

विश्वनाथ बाबू के पास बहुत से मुवक्किल आते थे। उनमें एक मुसलमान भी था। उसको नरेन्द्र चाचा कहा करते थे। नरेन्द्र चाचा के विशेष स्नेहपात्र थे। उन्हें चाचा से मिठाई आदि मिला करती थी। हिन्दू मुवक्किलों को यह बात खटकती थी। पर उदार स्वभाववाले विश्वनाथ उधर ध्यान नहीं देते थे। तथापि देशाचार का मान करने के हेतु उन्होंने अपने बैठक खाने में विभिन्न जातिवालों के लिए अलग अलग हुक्का रखा था। नरेन्द्र के लिए यह एक विशेष समस्या की बात थी। जब पूछताछ करने पर उन्हें यह पता चला कि दूसरी जाति का हुक्का पी लेनेसे जाति चली जाती है, तो उनकी समस्या और भी जटिल हो गयी। उन्होंने इस तथ्य की परीक्षा करनी चाही। एक दिन जब बैठकखाने में कोई नहीं था, वे चुपचाप एक के बाद दूसरा हुक्का पी-पीकर देखने लगे। इसी बीच पिता सहसा वहाँ आ पड़े और पुत्र को वैसा करता देख पूछा, "यह क्या कर रहा है रे?" पुत्रने उत्तर दिया, "देख रहा हूँ कि यदि जाति न मानूँ तो क्या होगा?" सुनते ही पिता ठठाकर हँस पड़े और "हाँ रे दुष्ट!" कहकर अन्यत्र चले गये।

एक दिन नरेन्द्रनाथ लुका-छिपी का खेल खेल रहे थे कि अचानक दुमंजले की सीढ़ी से लुढ़कते लुढ़कते वे नीचे गिर कर बेहोश हो गये। घन्टे भर के कठिन परिश्रम के बाद उन्हें होश आया। डाक्टर ने आश्वासन देते हुए कहा कि यद्यपि चोट गहरी है, तथापि प्राण-नाश की आशंका नहीं है। इसके फलस्वरूप उनकी दाहिनी आँख के ठीक ऊपर एक चोट का निशान सदा के लिए रह गया। श्रीरामकृष्ण ने यह घटना सुनकर बादमें कहा था, "यदि उस दिन चोट लगकर नरेन्द्र की शक्ति कम न हो जाती, तो वह पृथ्वी को बिलकुल उलट-पुलट देता।"

जब नरेन्द्र सात वर्ष के हुए, तो उन्हें मेट्रोपोलिटन स्कूल में भर्ती किया गया। उन्हें अँगरेजी शिक्षा का विचार न भाया, इसलिये उसके प्रति अपनी असहमति प्रकट करते हुए बोले, "वह विदेशी भाषा है, वह मैं क्यों सीखूँ ?" सबने तरह-तरह से नरेन्द्र को समझाया, पर कोई फल न निकला। किन्तु कुछ महीने बाद उन्होंने स्वयं होकर ही आग्रह के साथ अंगरेजी की पढ़ाई शुरू कर दी और शीघ्र ही उस पर विशेष अधिकार प्राप्त कर लिया। पढ़ाई के साथ साथ उन्होंने छोटी उम्र से ही मुष्टि युद्ध (बाक्सिंग) और व्यायाम का नियमित अभ्यास शुरू कर दिया और उनमें पारंगत हो गये। संगी-साथियों के नायक की हैसियत से वे उनको मार-पीट में बीच-बचाव करते और पुरस्कार के रूप में पाते दोनों ओर के अनभिप्रेत आघात। फिर, आपत्ति-विपत्ति में भी वे उन

लोगों के साथ खड़े रहते। एक समय की घटना है। वे अपने साथियों के साथ किला देखने गये। उनमें से एक बालक अचानक अस्वस्थ हो गया और नीचे बैठ गया। दूसरे बालक सोचने लगे कि वह ढोंग कर रहा है और वे मिलकर उसकी हँसी उड़ाने लगे। वे तो उसे वहीं छोड़कर चले जाने को उद्यत हुए। पर नरेन्द्र ने एक गाड़ी बुलायी और उसमें अस्वस्थ बालक को बिठाकर उसके घर छोड़ आये।

नरेन्द्र में साहस कूट-कूटकर भरा था। वे बड़े खोजी प्रवृत्ति के थे पड़ोसी साथी के यहाँ चम्पा का एक पेड़ था। नरेन्द्र पेड़ पर चढ़ जाते और उसकी डगाल में पैर फँसाकर उलटा लटक जाते तथा हाथों को छोड़कर झूलने लगते। यह उनका प्रिय खेल था। एक दिन बूढ़े मकान-मालिक ने उस छोटे बालक को उस अवस्था में देख लिया और वे चिन्तित होकर उसे वैसा करने से मना करने लगे। झट नरेन्द्र ने कारण जानना चाहा। बूढ़े महाशय ने बालक को पूरी तरह निरुत्तर करने के लिए भय दिखाया, "अरे, जानते नहीं! उस वृक्ष में ब्रह्मराक्षस रहता है। जो उस पेड़ पर चढ़ता है, ब्रह्मराक्षस उसका गला मरोड़ देता है।" नरेन्द्र चुप हो रहे। किन्तु वृद्ध महोदय के वहाँ से जाते ही वे उनके कथन की सत्यता परखने के लिए फिर से पेड़ पर चढ़ गये और पहले की तरह झूलने लगे। पर ब्रह्मराक्षस के आगमन के लक्षण न दिखे। नीचे उनका वह साथी उन्हें बारम्बार मना करता

हुआ नीचे उतर आने के लिए कहने लगा। इस पर वे बोले, "अरे, तू भी परले सिरे का मूर्ख ठहरा। बस, किसी ने कुछ कह दिया, तो क्या उसी पर विश्वास कर लेना चाहिए? यदि बूढ़े की बात सच होती, तो मेरी गर्दन कब की मरोड़ दी गयी होती!" सम्भवतः इसी प्रकार की घटना का स्मरण करके ही बाद में स्वामी विवेकानन्द ने कहा था, "बचपन में मैं बड़ा ढीठ था; नहीं तो क्या बिना फूटी कौड़ी साथ लिये दुनियाँ का चक्कर मारकर आ सकता था?"

नरेन्द्र नाथ के साहस को प्रकट करनेवाले और भी कई दृष्टान्त हैं। उनमें दो-एक विशेष उल्लेखनीय हैं। नरेन्द्र की उम्र तब ग्यारह वर्ष की रही होगी। कलकत्ते में 'सिरापिस' नामक ड्रेडनट किस्म का एक युद्धपोत आया। नरेन्द्र साथियों के साथ उसे देखने गये तो मालूम हुआ कि चौरंगी में बड़े साहब रहते हैं, जिनकी अनुमति आवश्यक है। नरेन्द्र बड़े साहब के आफिस पहुँचे। चपरासी ने उस छोटे बालक को भगा दिया। पर नरेन्द्र अपनी हार मानने को तैयार न थे। उन्होंने देखा कि मकान के पीछे लोहे की सीढ़ियाँ हैं, जो बड़े साहब के कमरे की ओर गयी हैं। नरेन्द्र तुरन्त उस ओर से साहब के कमरे सामने पहुँच गये और साहब से मिलने के इच्छुक व्यक्तियों की कतार में खड़े हो गये। जब उनकी बारी आयी, तो वे साहब से अनुमति-पत्र लेकर नीचे चले आये। बाहरी दरवाजे पर आकर

उन्होंने चपरासी को चिढ़ाते हुए अनुमति-पत्र दिखाया। चपरासी चकित होकर बोला, "कैसे ऊपर गये ?" विजय के उल्लास में नरेन्द्र ने मुँह बनाते हुए कहा, "हम जादू जानता।"

नरेन्द्र के मुहल्ले में श्री नवगोपाल मित्र का एक अखाड़ा था। नरेन्द्र अपने समवयस्कों के साथ वहाँ व्यायाम किया करते थे। एक दिन उन लोगों ने रोमन रिंग का लकड़ी का फ्रेम खड़ा करना चाहा। सबके सब उस प्रयास में पसीने से लथपथ हो गये, पर फ्रेम खड़ा न हुआ। बारम्बार उन्होंने प्रयत्न किया, पर असफल रहे। रास्ते से जाते हुए एक अँग्रेज नाविक ने बालकों का यह परिश्रम देखा और उनकी सहायता के लिए चला आया। उसकी चेष्टा से फ्रेम बहुत कुछ खड़ा हो गया था कि इतने में फ्रेम की एक लकड़ी अचानक नाविक के सिर पर गिर पड़ी। मार जोर की लगी। नाविक बेहोश होकर गिर पड़ा और कटे स्थान से रुधिर की धारा बह चली। यह देखकर नरेन्द्र के साथी पुलिस के भय से जिसे जिधर रास्ता मिला भाग गये। पर नरेन्द्र नाविक की शुश्रूषा में लग गये। नव गोपाल बाबू और चिकित्सकों की सहायता से वे नाविक को ट्रेनिंग अकादमी विद्यालय में भरती करा आये। एक सप्ताह में नरेन्द्र की यत्नपूर्वक देखभाल में नाविक चंगा हो गया। नरेन्द्र ने रास्ते के खर्च आदि के लिए कुछ चन्दा इकट्ठा कर नाविक के हाथों दे उसे विदा दी।

विद्यालय में नरेन्द्र की पढ़ाई तो चलती ही थी, पर घर में माता भुवनेश्वरी और पिता विश्वनाथ से भी वे तरह-तरह की शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। विश्वनाथजी की अपनी अलग शिक्षाप्रणाली थी। एक दिन नरेन्द्र माता से बहस करते-करते उनके प्रति कोई कड़ी बात कह गये। विश्वनाथजो ने पुत्र को सामने तो कुछ न कहा, पर उसके कमरे के दरवाजे के ऊपर कोयले से लिख दिया, "नरेन्द्र बाबू ने आज अपनी माता को यह-यह कहा है—।" उद्देश्य यह था कि नरेन्द्र के साथी उसे पढ़ेंगे और नरेन्द्र लज्जित होंगे। विश्वनाथ बाबू अपने बन्धु-बान्धवों और आत्मीय-स्वजनों के आमोद-प्रमोद में बहुत खर्च करते थे। बहुत दूर के रिश्ते वाले भी उनके घर में खाते-पीते पड़े रहते, यहाँ तक कि नशा-भाँग आदि के लिए भी पैसा पाते। जब नरेन्द्र समझने-बूझने योग्य हुए, तो उन्होंने इस फिजूल खर्ची पर आपत्ति की। पिता ने इस पर उत्तरदिया था, "जीवन कितना दुःखमय है यह तू अभी क्या समझेगा? जिस दिन समझेगा, उस दिन उन लोगों को जो इस दुःख से किसी प्रकार क्षणिक त्राण पाने के लिए नशा करते हैं, तू करुणा की दृष्टि से देखेगा।" पुत्र को उपदेश देते समय पिता इस बातका ध्यान रखते थे कि कहीं बालक के स्वाधीन चिन्तन पर आघात न हो। वे पुत्र को विचार की कड़ी पकड़ाकर और उसकी जिज्ञासा को जगाकर निश्चिन्त हो जाते थे। इसीलिए, एक दिन यह

स्वाधीनचेता बालक जब पिता को निःसंकोच पूछ बैठा कि "आपने मेरे लिए क्या किया है?" तो पिता ने बिना खिन्न हुए उत्तर दिया, "जा, आईने में जरा अपना चेहरा एक बार देख ले, उसी से समझ जायेगा।" अन्य एक दिन नरेन्द्र ने पिता से जानना चाहा, "संसार में किस प्रकार रहना चाहिए?" उत्तर प्राप्त हुआ "कभी भी किसी बातपर आश्चर्य प्रकट मत करना।" इस अमूल्य उपदेश ने विवेकानन्द को विश्व के बड़े-बड़े राजप्रासादों में और भिखारी को झोपड़ियों में मानसिक साम्य रखने की क्षमता प्रदान की थी।

माता भुवनेश्वरी भी पुत्र के सद्गुणों को प्रस्फुटित करने में विशेष तत्पर थीं। एक समय जब बालक ने माता के पास दुःख प्रकट किया कि विद्यालय में वह बिना किसी अपराध के सताया गया है, तो माता न उसे सान्त्वना देते हुए कहा था, "बेटा, यदि तेरी काई गल्ती न हो तो उससे क्या बनता-बिगड़ता है? चाहे जो भी परिणाम क्यों न हो, पर सत्य को न छोड़ना। जो सत्य दिखे, वही करना। कई बार हो सकता है कि उसक लिए तुझे अन्याय और अरुचिकर परिणाम भी सहन करना पड़े; पर सत्य को न छोड़ना।" दूरदृष्टिसम्पन्न माता ने इस प्रकार की अनेकों घटनाओं में पुत्र को अविचलित रहने की शिक्षा दी थी और पुत्र का ध्यान सामयिक अन्याय, पराजय और विपर्यय के पीछे चिर प्रतिष्ठित सत्य, शिव और सुन्दर पर केन्द्रित किया था। तभी

तो मातृभक्त विवेकानन्द ने एक बार गर्व से कहा था, "अपने ज्ञान के विकास के लिए मैं अपनी माता का ऋणी हूँ।"

नरेन्द्र जब चौदह वर्ष के थे (१८७७ई०), तब उनके पिता जलवायु परिवर्तन के लिए मध्यप्रदेश-स्थित रायपुर चले आये और कुछ दिन बाद अपनी पत्नी और बच्चों को भी वहाँ बुलवा लिया। उन दिनों रायपुर तक रेलवे लाइन नहीं बनी थी। कलकत्तेसे इलाहाबाद आना पड़ता, इलाहाबाद से जबलपुर और जबलपुर से नागपुर। नागपुर से बैलगाड़ी द्वारा रायपुर जाना पड़ता था। नागपुर से रायपुर की इस यात्रा में लगभग पन्द्रह दिन लग जाते थे। निबिड़ वन-कान्तारों और खगकुलों के कूज से भरे हुए शैलशिखरों के बीच से गाड़ी चली आ रही थी। एक ऐसा स्थान आया जहाँ ऊँचे-ऊँचे दो गिरि शिखरों ने मानो परस्पर का प्रेमपूर्वक आलिंगन करने के लिये विपरीत दिशाओं से आकर वनमार्ग को आच्छादित कर दिया था। नरेन्द्र मुग्ध होकर यह दृश्य देखने लगे। अचानक उन्होंने देखा कि एक ओर के शिखर से धरती तक फैली हुई दरार में शहद का एक विशाल छत्ता लटक रहा है। नरेन्द्र का मन मधु मक्खियों के आदि-अन्त के रहस्य-चिन्तन में विभोर होकर असीम के भाव में इतना गहरा लीन हो गया कि वे संज्ञाहीन हो गये। नरेन्द्र ने बाद में बताया था, "मैं कितनी देर तक वैसी अवस्था में बैलगाड़ी में पड़ा रहा कुछ स्मरण नहीं। जब मेरी चेतना

लौटी, तो देखा कि वह स्थान बहुत दूर छूट गया है। मैं बैलगाड़ी में अकेला था, इसलिए यह बात दूसरे लोग नहीं जान पाये।"

नरेन्द्र उस समय तृतीय श्रेणी में पढ़ते थे। रायपुर में तब कोई विद्यालय नहीं था, अतः वे पिता के पास पढ़ा करते। यह शिक्षा केवल पोथीगत विद्या तक ही सीमित नहीं थी—पिता और पुत्र में कई विषयों पर आलोचना होती थी, कभी-कभी तो दोनों में घोर तर्क भी मच जाता था। इसके अतिरिक्त, विश्वनाथ बाबू के निवास स्थान पर पण्डितों और साहित्यिकों की बैठक जमा करती थी। ऐसी बैठकों में विविध विषयों पर चर्चा हुआ करती थी। इससे नरेन्द्र का ज्ञान भाण्डार बढ़ता जा रहा था। दो वर्ष बाद विश्वनाथ बाबू जब सपरिवार कलकत्ता लौटे, तब नरेन्द्र शरीर और मन से सबल, परिपुष्ट और आत्मविश्वासी बन चुके थे। इधर विश्वविद्यालय की प्रवेशिका-परीक्षा सन्निकट थी। बड़े प्रयत्न से उन्हें परीक्षा में बैठने की विशेष अनुमति मिली और वे उसकी तैयारी में लग गये। बीच में उनकी पढ़ाई छूट जाने के कारण बहुतों को उनके उत्तीर्ण होने की आशा नहीं थी; पर जिस समय परीक्षाफल निकला, लोगों ने आनन्द और आश्चर्य के साथ देखा कि मेट्रोपोलिटन विद्यालय से उत्तीर्ण छात्रों में एकमात्र नरेन्द्र ही प्रथम श्रेणी में पास हुए हैं। इस सफलता के उपलक्ष में पिता ने पुत्र को एक सुन्दर जेबघड़ी उपहार में दी।

इन कतिपय वर्षों में केवल विद्या-बुद्धि में ही नरेन्द्र की उन्नति नहीं हुई, बल्कि उनके अन्य सद्गुणों ने भी दूसरों को अपनी ओर खींचा था। उनकी माता और पिता दोनों का ही कण्ठस्वर मधुर था और दोनों गान विद्या में विशारद थे। नरेन्द्र भी जब अपने देवदुर्लभ कण्ठ से ताल और लय के साथ गाते, तो श्रोतागण मुग्ध हो जाते थे। रायपुर में रहते समय उन्होंने अपने पिता से पाकशास्त्र सीखा था। यही नहीं, व्यायाम, नौका खेना, तलवार चलाना, अभिनय करना आदि बहुत सी बातों में उनकी प्रतिभा प्रकट हुई थी। उनका जन्मजात गुण था—तेजस्विता। क समय कोई नाटक चला हुआ था। अदालत का कोई प्यादा एक मँजे हुए अभिनेता के नाम गिरफ्तारी का वारंट लेकर वहाँ आया और उस अभिनेता को गिरफ्तार करने के लिए रंगमच पर चढ़ गया। यह देख नरेन्द्र उत्तेजित हो गरज उठे, "स्टेज से निकल जाओ; जब तक नाटक समाप्त नहीं होता, बाहर खड़े रहो।" साहस पाकर अन्य शत शत कण्ठों से आवाज फूट पड़ी, "निकल जाओ, निकल जाओ।" इस प्रकार उस रात्रि अभिनय की अकाल मृत्यु होते-होते बची।

प्रवेशिका-परीक्षा में उत्तीर्ण होने के बाद नरेन्द्र प्रेसिडेन्सी कालेज में भरती हुए, पर एक वर्ष बाद ही वे जनरल असेम्ब्लीज़ इन्स्टिट्यूशन में चले गये। कालेज में वे साहित्य, अलंकार शास्त्र, न्याय और दर्शन का बहुत

मन लगाकर अध्ययन करते थे। विशेष रूप से उन्होंने अँगरेजी साहित्य पर सर्वाधिक अधिकार कर लिया। एक समय पारितोषिक वितरण-सभा के ही साथ साथ एक शिक्षक की विदाई का भी आयोजन किया गया। विख्यात वक्ता श्रीसुरेन्द्रनाथ बन्द्योपाध्याय इन दोनों समारोहों के सभापति थे। इस सभा में सहपाठियों के अनुरोध पर नरेन्द्र ने अँगरेजी में आधे घण्टे तक ऐसा हृदयग्राही भाषण दिया कि सभापति महोदय ने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। दो वर्ष बाद वे एफ०ए०.की परीक्षामें उत्तीर्ण होकर बी०ए० में भरती हुए। पर इस बीच उनके जीवन में एक आमूल परिवर्तन का बीज वपित हो चुक था।

कालेज जीवन के प्रारम्भ में उन्होंने पाश्चात्य मनीषियों की विचार धारा का गहरा अध्ययन किया था। इसके फलस्वरूप अपने धर्म और ईश्वर के अस्तित्व में आस्था खोकर वे अज्ञेयवाद और नास्तिकता की ओर झुक रहे थे। पर असल में उनका मन वैसे उपादानों का नहीं बना था। तत्कालीन कलकत्ते का समाज भले ही धर्म के बाहरी आडम्बर में आस्था नहीं रखता था, पर केशवचन्द्र सेन की वक्तृता से विमुग्ध होकर वह धर्म के मूल तत्त्वों को सत्य समझना सीख रहा था। तत्कालीन अन्य बहुत से शिक्षित युवकों की भाँति नरेन्द्र भी अविलम्ब केशव सेन के घेरे में आ पड़े। वे बारम्बार ब्राह्मसमाज की उपासनाओं में भाग लेने लगे और ब्राह्म नेताओं से मिलने-जुलने लगे। फलस्वरूप उनका भी नाम विधिवत्

ब्राह्म सदस्यों की सूची में सम्मिलित कर लिया गया। यही नहीं, ब्राह्मों का अनुकरण करते हुए नरेन्द्र परिचितों के बीच खोखले हिन्दू धर्म की निन्दा और जातिभेद की कड़ी आलोचना भी करने लगे तथा स्त्री-शिक्षा और स्त्री-स्वाधीनता की आवश्यकता भी उत्साहपूर्वक प्रतिपादित करने लगे। किन्तु इस प्रकार के विधि में बँधे अनुष्ठान और समाज-सुधार के आन्दोलन प्राणों की भूख को न मिटा सके। नरेन्द्र जानते थे कि धर्म का मूल उद्देश्य है ईश्वर प्राप्ति। वे ब्राह्मसमाज के कई चरित्रवान् व्यक्तियों के सम्पर्क में आये। उससे उन्हें तृप्ति भी मिली। समाज मन्दिर में धर्म संगीत के समय वे इतने तल्लीन हो जाते कि उन्हें थोड़ी देर के लिए उच्च अनुभूति का आभास भी प्राप्त होता था। किन्तु यह सब होते हुए भी ईश्वरी-दर्शन का पथ उनके लिए अजाना ही रह गया था। नरेन्द्र के हृदय में ईश्वर-दर्शन की व्याकुलता धीरे-धीरे तीव्र होने लगी। एक दिन उनका मन इतना आकुल हो गया कि सहने में असमर्थ हो वे महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के समीप उपस्थित हुए। उस समय महर्षि गंगा के वक्ष पर तैरती नौकामें निवास करते थे और अपना समय ध्यान-धारणा में बिताया करते थे। नरेन्द्र उन्मत्त के समान द्रुत वेग से नौका के भीतर आये और उपासना में लीन महर्षि को प्रश्न कर बैठे, "महाशय, क्या आपने ईश्वर को देखा है?" व्यग्र कण्ठ से यह अप्रत्याशित प्रश्न सुनकर महर्षि चौंक

[शेष लेख पृष्ठ ४७ पर]

भागवत-तत्त्व-मीमांसा

राय साहब हीरालालजी वर्मा रिटायर्ड डिप्टी कमिश्नर

प्रथम व्याख्यान

भागवत की प्रामाणिकता और सन्त एकनाथ की दृष्टि

नमस्तस्मै भगवते वासुदेवाय साक्षिणे।
य इदं कृपया कस्मै व्याचचक्षे मुमुक्षवे ॥

—प्रस्तावना—

सबके साक्षी उन भगवान् वासुदेव को प्रणाम है, जिन्होंने बड़ी कृपा कर मोक्ष के अभिलाषी ब्रह्मा को इस श्रीमद्भागवत का उपदेश किया। सचमुच भागवत ऐसा अनुपम महाग्रन्थ है, जिसे यथार्थ रूप से समझने के लिए शास्त्रों का ज्ञान और उत्तम समझ होनी चाहिए। उसमें ईश्वरीय ज्ञान, सृष्टि का रहस्य, भारत का इतिहास, नीति, दर्शन, विज्ञान आदि सभी विषयों का वर्णन है। स्वर्गीय महामना मालवीयजी ने एक बार कहा था कि "यह पवित्र ग्रन्थ मनुष्य मात्र का उपकारी है, ज्ञान-भक्ति और वैराग्य का विशाल समुद्र है, और मनुष्यों में परस्पर प्रेम स्थापित करने के लिये इससे बढ़कर कोई दूसरा साधन नहीं।" निःसन्देह इस में विशेषकर श्रीकृष्ण-लीलाओं का वर्णन है और कृष्ण-भक्ति का प्रचार उसका प्रयोजन है;

फिर भी आध्यात्मिक दृष्टि से उसका प्रधान प्रतिपाद्य आत्मज्ञान ही है, जो सार्वलौकिक और सार्वकालिक है। वर्तमान समय के लिए उसमें प्रतिपादित भक्तिमाग इसी कारण लोकप्रिय है कि उसमें याग-यज्ञ की क्रियाओं या ज्ञान की कठिन साधनाओं को प्रमुख नही माना गया है। इसमें किसी प्रामाणिक मत का विरोध भी नहीं है। इसीलिए भागवत में ज्ञान, ध्यान और कर्म-मार्गों का न केवल समन्वय किया है, प्रत्युत विविध धर्मों की एकरूपता भी सिद्ध की गयी है। बताया गया है कि पारस्परिक विरोधी जान पड़ने वाले मत भी एक ही परमतत्व को समझाने के साधन मात्र हैं। उसमें भगवान् को निर्गुण सगुण, साकार और निराकार सभी रूपों एवं भावों में माना है आर जहाँ उसकी कल्पना सृष्टि के परे की गयी है, वहाँ बतलाया है कि वह नाम, गुण और रूप से अतीत है।

भागवत का सिद्धान्त है कि भगवान को पाने का सबमें सुलभ साधन प्रेम है। प्रगाढ़ भक्ति से ही भगवत्तत्त्व का ज्ञान होता है और उसके पश्चात् आत्मसाक्षात्कार, जिसके बिना संचित या क्रियमाण कर्मों का नाश नहीं होता। भगवान् में अनुराग होने के लिए उसमें शुद्ध चिन्तन द्वारा तन, मन, धन का समपण आवश्यक होता है। इस भाव के प्रदर्शन के लिए गोपियों की प्रेम - लीला और राजाओं की भक्ति और ज्ञान की कथाओं का भलीभाँति चित्रण किया गया है। जैसे उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र

और गीता इसी कारण 'प्रस्थान-त्रयी' कहलाती हैं कि वे तत्त्वज्ञान की महानिधि हैं; वैसे ही भागवत में, विशेषतः एकादश स्कन्ध में, स्वयं भगवान कृष्ण के उपदेश द्वारा अनेक तात्त्विक विषयों का निरूपण किया गया है।

भागवत के पहले स्कन्ध के पहले अध्याय में बतलाया है कि इस पुराण में उस महान् धर्म का वर्णन है जिसमें फलाकांक्षारूप छल-कपट को स्थान नहीं, लेकिन जिससे परमार्थ वस्तु का सहज ही ज्ञान हो जाता है। इसमें उन्हीं गूढ़ तत्त्वों का विवेचन है, जिनके प्रकाशन के लिए श्रुतियों का आविर्भाव हुआ है।

वायुपुराण में बतलाया गया है कि पुराणों में निम्नलिखित पाँच विषयों का निरूपण किया जाता है। (१) सर्ग, (२) प्रतिसर्ग, (३) वंश (४) मन्वन्तर, (५) वंशानुचरित। ये पाँचों जिसमें हों,उसे पुराण कहना चाहिए। इनमें सर्ग का अर्थ है सृष्टि; परन्तु इस शीर्षक के अन्तर्गत ब्रह्म से जिस प्रकार पंच महाभूत, महत्तत्व और अहंकार की उत्पत्ति होती है, उसी का वर्णन रहता है। उसके पश्चात् विराट् पुरुष से जो स्थावर-जंगम सृष्टि बनती है उसे प्रतिसर्ग या विसर्ग कहते हैं। जगत् का निर्माण हो जाने पर प्रमुख राजाओं की वंशावली का वर्णन कर भगवान की अवतार-लीलाओं की चर्चा करना स्वाभाविक ही है। इन कथाओं की संज्ञा 'वंश' और 'वंशानु या ईशानु चरित' की जाती है। काल-चक्र का

विधान मन्वन्तर में समझाया जाता है। यदि पुराणों में इन विषयों के अतिरिक्त और कुछ न लिखा हो, तो वे भौगोलिक या ऐतिहासिक पुस्तकें हो जायँ। परन्तु उनका क्षेत्र और प्रभाव बढ़ाने के लिए उनमें अनेक धार्मिक, वैज्ञानिक, राजनैतिक, और सामाजिक विषय भी सम्मिलित कर दिये जाते हैं। फलतः वे धर्म पुस्तकें समझी जाती हैं। धर्म पुस्तकों के सम्बन्ध में लोगों की धारणा है कि उनमें जो कुछ लिखा हो वह सत्य हो, प्रामाणिक हो और पवित्र हो। यदि किसी धार्मिक पुस्तक में किसी प्रकार की अस्वाभाविकता या अपवित्रता पायी जाय, तो उनमें अश्रद्धा उत्पन्न हो जाती है।

देखने में आता है कि हमारे पुराण-वाङ्मय में बहुधा ऐसी अलौकिक घटनाओं का उल्लेख है, जिनमें साधारणतया, वर्तमान स्थिति के अनुसार, विश्वास नहीं बैठता। उदाहरणार्थ पृथ्वी का शेषनाग के फनों पर स्थित रहना आजकल अरुचिकर है। इसी तरह पुराणों में राजाओं की वंशावली का जो वर्णन है, वह ऐतिहासिक सत्यता की कसौटी पर नहीं उतरता। निःसंदेह कुछ श्रद्धालु भक्तजन इन घटनाओं या कथाओं को लाक्षणिक या रूपमय कहकर उनकी यथार्थता समझाने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु ऐसे भावुकों को भागवत की प्रतिष्ठा समझाने की आवश्यकता नहीं रहती। उनमें तो भगवान के प्रति श्रद्धा है ही। किन्तु बहुतों की ऐसी धारणा है कि पुराणों में जो कुछ लिखा है, वह सारी 'दन्तकथा' है या अप्रामाणिक

बातें है। परन्तु यह सबको विदित है कि बखारी या बंडे में अनाज के साथ भूसा रहता ही है। दोनों काम की चीजें हैं। जिन्हें केवल अनाज के दाने चाहिए, उन्हें उचित है कि वे भूसे को पछोड़कर अलग कर दें और जिस वस्तु से उनका मनोरथ सिद्ध हो, उसे ही ग्रहण करें।

———

[शेष लेख पृष्ठ ४२ का]

उठे और प्रश्नकर्ता की ओर एकटक देखने लगे। एक बार दूसरी बार, तीसरी बार उस तीक्षण जिज्ञासा बाण से विद्ध होकर अन्त में महर्षि ने जिज्ञासु की आँखों में आँखें डालकर कहा, "तुम्हारी आँखें योगी की आँखों के समान हैं।" उस निरर्थक प्रशंसा से क्षुब्ध होकर नरेन्द्र भारी मन ले घर लौटे। (क्रमशः)

———

भागवत की ब्रह्म-मीमांसा

कहा जाता है कि जब व्यास जी को वेद का विभाजन और महाभारत की रचना करने से भी सान्त्वना नहीं मिली, तो उन्होंने श्री नारद मुनि के उपदेशानुसार भक्ति-रस मिश्रित श्री मद्भागवत ग्रन्थ को लिखा। इस ग्रन्थ का उद्देश्य यही था और है कि पढ़ने-सुनने वालों के हृदयों में सुलभता से ब्रह्म-ज्ञान की जागृति होकर उनको परम शान्ति मिले। ब्रह्म-ज्ञान का अर्थ है, ईश्वरतत्त्व की पहिचान। श्रीमद्भागवत में ब्रह्म का जिस प्रकार निरूपण किया गया है, उसका वर्गीकरण इस प्रकार है।

(१) ब्रह्म का सहज स्वरूप सत्-चित्-आनन्द है।

(२) जब तक उसकी कल्पना किसी गुण से संयुक्त नहीं की जाती, वह निर्गुण कहा जाता है। जब वह सत्त्व से अवच्छिन्न होता है, तब साकार या 'सगुण' समझा जाता है।

(३) शुद्ध सत्त्वसम्बद्ध चैतन्य को विष्णु, सत्त्व और रज मिश्रित को ब्रह्मा, और सत्व और तम मिश्रित को रूद्र कहते हैं।

(४) ब्रह्म जब पंचतत्त्वों से ब्रह्माण्ड रूप विराट् शरीर की रचना करके उसमें अपने अंश रूप से प्रवेश करता है, तब उसका नाम पुरुष हो जाता है।

(५) प्रकृति और उससे उत्पन्न होने वाले सभी पदार्थ ब्रह्म के ही अंश स्वरूप हैं। इसलिए प्रकृति के तीनों गुणों (सत्त्व, रज और तम) से जीव ओत प्रोत रहता है। किन्तु ब्रह्म उनसे लिप्त नहीं रहता।

(६) जब तत्त्व मात्र ब्रह्म के साथ स्वरूप शक्ति, जीव-शक्ति और मायाशक्ति का बोध कराया जाता है, तब उसे 'भगवान्' कहने लगते हैं। ये तीनों शक्तियाँ ब्रह्म की अव्यक्त अवस्था में लीन रहती हैं।

(७) पुरुष में प्रकृति का अध्यास हो जाने के कारण जीवों के विविध नाम और गुण रख लिये जाते हैं। किन्तु जैसे समुद्र में नदियाँ समा जाती हैं, वैसे ही सब जीव उपाधिरहित होकर ब्रह्म में समा जाते हैं।

(८) ब्रह्म और जीव हैं तो अभिन्न, पर यदि अज्ञान के कारण जीव देहाभिमानी हो जाता है, तो कर्म के बन्धनों में फँस जाता है। फिर उसे जन्मान्तर ग्रहण करना पड़ता है।

उपर्युक्त ब्रह्म-मीमांसा गीतादर्शन के अनुसार ही है और सभी मानते हैं कि गीता उपनिषदों का सार सर्वस्व है। इसी तरह भागवत में अन्य आध्यात्मिक विषयों पर जो प्रकाश डाला गया है, वह भी वेद और उपनिषदों के आधार पर ही है। अन्तर केवल इतना ही है कि उपनिषदों में जो तत्त्व बीजरूप में दिये गये हैं, उन्हें भागवत में विस्तृत रूप से समझाया गया है। इसमें सन्देह

नहीं कि भागवत में राजाओं की वंशावली, उनके अलौकिक कृत्यों और अवतार सम्बन्धी अद्भुत चरित्रों का भी वर्णन है, किन्तु इन कथाओं के साथ धर्म की अनेक बातों का भी प्रतिपादन है, जिनके अवलोकन से हृदय में भक्ति का संचार होता है। इसी हेतु बहुत से लोग इसका श्रद्धापूर्वक पाठ करते हैं। 'भागवतमाहात्म्य' में बतलाया है कि भागवत की कथा सुनने से मुक्ति होती है और जो लोग एकान्त में बैठकर इसमें भरे गुह्य परमतत्त्वों पर भली भाँति विचार करते हैं, वे ज्ञान-वैराग्य सहित भक्ति को पाकर साक्षात् बैकुण्ठाधिपति हो जाते हैं।

सारांश यह कि भागवत में दर्शाये हुए अध्यात्म विषयों के अध्ययन से आत्मसाक्षात्कार हो जाता है, जो जीवन्मुक्ति का एकमात्र मार्ग है। किन्तु कठिनाई इस बात की है कि ये विषय पुस्तक भर में अनेक प्रसंगों के साथ यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं और एक मामूली छात्र के लिए उनके सारे मर्म का समझना दुःसाध्य है। इस कठिनता को सुगम करने के लिए इस खण्ड में नौ व्याख्यानों द्वारा भागवत के मौलिक, धार्मिक तत्वों का निष्कर्ष दिया जा रहा है। हमें विश्वास है कि इससे सन्देहास्पद कथा-भाग के दार्शनिक तत्त्व समझने में किसी प्रकार की बाधा न पड़ेगी।

भागवतः सन्त एकनाथ की दृष्टि में

साधारणतः पुराणों में पाँच ही मुख्य विषय रहते हैं,

किन्तु, भागवत का दृष्टिकोण अधिक विस्तीर्ण है। इसी-लिए भागवत का सारा आध्यात्मिक विषय उसके दूसरे स्कन्ध के दसवें अध्याय में निर्मित दस शीर्षकों के अनुसार विभाजित है। भागवत की विज्ञान-विद्या का उसके कथा-भाग से किसी निश्चित हेतु से पृथक् करना अनुपयुक्त नहीं कहा जा सकता। महाराष्ट्र के सन्त श्री एकनाथजी ने तो भागवत के एकादश स्कन्ध पर एक बहुमूल्य टीका लिखी है, जो 'एकनाथी भागवत' नाम से प्रख्यात है। उसमें उन्होंने श्री मद्भागवत को एक बड़े खेत की उपमा देकर कहा है कि उसमें बोने के लिये ज्ञान का बीज सर्व-प्रथम ब्रह्माजी ने प्राप्त किया। फिर नारदमुनि ने जो उस खेत के स्वामी थे, उक्त बीज उस खेत में बोया। व्यासजी ने उस खेत की उत्पादनशक्ति बढ़ाने के लिए उसमें दस बाँध डाले। परिणामस्वरूप वहाँ ईश्वरीय विलास की अद्भुत फसल उत्पन्न हुई। शुकदेवजी ने उस फसल की इस प्रकार रखवाली की कि जो पापी-पक्षी वहाँ आक्रमण करते, उन्हें वे प्रभु के नाम को गोफन में रखकर उनकी ओर फेंककर उड़ा देते। जब फसल खलिहान में आ गयी तब उद्धवजी ने उसकी गाहनी की और श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के रूप में कृषि-फल की ढेरी लगा दी। फिर उड़ावनी कर याने उत्तम तत्त्वों को निष्प्रयोजन विषयों से अलग-कर उन्हें भगवान् श्रीकृष्ण की अमृत-वाणी का रूप दे दिया। ऐसे साफ किये हुए अनाज से अमृत-रस भरे अनेक पकवान बनाये गये, जिनका स्वाद

राजा परीक्षित से लेकर प्राचीन ऋषि-मुनि और राजाओं तथा उनकी सन्तानों ने लिया और लेते रहेंगे। एकनाथी भागवत् इन्हीं पकवानों का मधुकोष है। यह पुस्तक मराठी भाषा में है। श्री आर० डी० रानडे ने, अपनी पुस्तक 'इण्डियन मिस्टिसिज्म' में इसी 'एकनाथी भागवत' पर सविस्तर विवेचन किया है। उसी के आधार पर श्रीमद्-भागवत का आध्यात्मिक सार जो एकनाथ महाराज ने खींचा है वह इस प्रकार है।

१. सृष्टि के पहले यह जगत् न था और न प्रलय के पश्चात् ही उसका कोई अंश रहेगा। इसलिए उसकी मध्य स्थिति भी असत्य है, भले ही वह माया के कारण सत्य प्रतीत क्यों न हो। जगत् को मिथ्या सिद्ध करने के लिये उन्होंने चार युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं।

(क) वेद में जगत् को 'मायिक' कहा गया है।

(ख) यह सर्वविदित है कि शरीर, जो पंचमहाभूतों से बनता है, नश्वर है।

(ग) मार्कण्डेय और भुशुण्डीजी ने प्रत्येक कल्प के अन्त में जगत् का नाश होता देखा है।

(घ) अनुमान सिद्धान्त के अनुसार। जैसे रस्सी में सर्प की भ्रान्ति होती है, पर सर्प वास्तव में नहीं रहता, वैसे ही ब्रह्म सत् है और जगत् उसका केवल विवर्त है। वह सत्-सा भासता है, पर वास्तव में है नहीं।

२. माया अवर्णनीय है। वह न सत् है और न

असत्। वह विद्या और अविद्या दोनों की जननी है।

३. ब्रह्म एक से अनेक उसी प्रकार हो जाता है जिस प्रकार कोई मनुष्य अनेक दर्पणों के सामने खड़ा हो जाय तो उसके प्रतिबिंब सभी दर्पणों में दीखने लगता है। यह प्रतिबिम्ब उल्टा और असत् होता है। इसी तरह माया के कारण ब्रह्म अपना स्वयं अवलोकन करता है, परन्तु उसका प्रतिबिम्ब जगत् की ओर देखता है। अविद्या के मैले शीशे पर ब्रह्म का जो प्रतिबिम्ब पड़ता है उसका नाम है जीव, और विद्या पर जो पड़ता है उसका नाम है 'शिव' या समष्टि आत्मा। यह आत्मा अजन्मा और नित्य है।

४. एकनाथ महाराज के अनुसार भागवतधर्म के पालन की विधि इस प्रकार है :—

(क) शुद्ध विचार और अच्छे कर्मों द्वारा हृदय को पवित्र रखें।

(ख) परमात्मा के निरन्तर ध्यान द्वारा मानसिक पापों का प्रायश्चित करते रहें।

(ग) एकान्तवास करें।

(घ) दूसरों के दोषों को न देखें। यदि कोई अपनी बुराई भी करे, तो उससे बदला लेना न सोचें।

(ङ) द्रव्य और स्त्री से बचे रहें।

(च) बुरे विचारों का पश्चात्ताप करें।

(छ) मन को मन से ही काबू में करें।

(ज) त्याग द्वारा वैराग्य का अभ्यास करें।

(झ) अपने कर्तव्यों का पालन करें।

५. एकनाथ महाराज ने भागवत में बतलाये हुए ज्ञान, कर्म, ध्यान और भक्ति-मार्गों पर निम्नलिखित प्रकाश डाला है।

(क) ज्ञान :— जिस मुमुक्षु का मन स्वधर्म-पालन और प्रभु के निरन्तर चिन्तन से शुद्ध हो चुका है, उसे वैराग्य हो जाता है। ऐसी अवस्था में वह सत्य से असत्य को पृथक् करना सीख जाता है और इसी सीख का नाम 'ज्ञान' है। उसके द्वारा ज्ञानी को यह अनुभव होने लगता है कि उसके अन्दर जो चैतन्य है, वह शरीर का नहीं, प्रत्युत स्वयंप्रकाश आत्मा का है। उसी आत्मा के प्रकाश से स्थूल और सूक्ष्म शरीर का बोध होता है। किन्तु ज्ञान दृष्टि से फिर यह निश्चय करना पड़ता है कि ये दोनों शरीर आत्मा नहीं हैं। इसका अनुभव होने पर अहंकार नष्ट होकर जीव और ब्रह्म में एकत्व हो जाता है। यही ज्ञान मार्ग का तात्पर्य है।

(ख) कर्म :— कर्म करना तो अनिवार्य है; इसलिए सच्चे कर्ता को चाहिए कि जो कुछ करे, उसमें अपनी प्रत्येक इन्द्रिय को प्रभु की ही ओर लगा दे। जैसे मन से प्रभु का चिन्तन करे; वाणी से उसका नाम जपे; कानों से उसकी महिमा सुने, हाथों से उसकी पूजा करे, नाक से उस पर चढ़ाये पुष्प और तुलसीदल को सूँघे; मुँह में

उनके चरणामृत का जल डाले आदि। कर्मों को इस प्रकार भगवान् के निमित्त या भगवान् को अर्पण करने से उनके विष-दन्त टूट जाते हैं।

(ग) ध्यान:—भगवान् के नाम और रूप के ध्यान से उनके अनुग्रह की धारा बहने लगती है। इस प्रसाद से मुमुक्षु प्रभु के आनन्द में मग्न होकर पागल-सा हो जाता है। ध्यान की दृढ़ता से भगवान् शंख, चक्र, गदा और पद्म सहित भक्त के सामने आ जाते हैं। फिर उसे किसी प्रकार का भय नहीं रह जाता।

(घ) भक्ति:—मार्ग ज्ञान से सुगम है और उसे किसी अन्य साधन की अपेक्षा नहीं होती। उससे अविद्या का भी नाश हो जाता है। भक्त को योग की क्रियाओं या समाधि की भी आवश्यकता नहीं रहती। भक्ति का अभिप्राय है, भगवान् से प्रेम करना। यदि भक्त प्रेममय हो गया तो उसका मन प्रभु में आप से आप स्थिर हो जाता है। फिर उसे शारीरिक समाधि से क्या प्रयोजन? फिर जब मन प्रभु में और प्रभु मन में ओतप्रोत हो गया, तो ऐसी अवस्था का ही नाम तो 'आत्मसाक्षात्कार' है। जीवन्मुक्ति इसी का फल है। इसके सामने और सब साधन निम्नतर श्रेणी के हैं।

भागवत के नौ प्रश्न

'कल्याण' के फरवरी-मार्च के अंकों में श्री वि० हर्षे, एम. ए.; साहित्य विशारद ने भी संत-शिरोमणि श्रीएक-

नाथजी के 'नाथ-भागवत' पर विवेचन किया है। उन्होंने समझाया है कि श्रीएकनाथजी ने भागवत की अपनी टीका में एकादश स्कन्ध के प्रथम पाँच अध्यायों को ही उस स्कन्ध के पंचप्राण मानकर उन्हीं को सावधान चित्त से अध्ययन करने का आदेश दिया है। इन अध्यायों में नारद कथित 'विदेहराज निमि और नो ऋषियों का संवाद' है। इसमें राजा निमि ने ऋषियों से जो प्रश्न किये थे, वे ये हैं:—

१. भागवत-धर्म कौन सा है? २. भागवतों के लक्षण क्या हैं? ३. माया क्या है? ४. माया से छूटने का क्या उपाय है? ५. ब्रह्म क्या है? ६. कर्मयोग क्या है? ७. परमेश्वर के अवतार-चरित्र कितने हैं? ८. अभक्तों की गति कौन सी है? और ९. किस युग में किस नाम रूप-वर्ण-आकार के ईश्वर का किस प्रकार पूजन करना चाहिये?

ऋषियों ने इन प्रश्नों के उत्तर जो दिये, वे संक्षेप में आगे भी बताये जायेंगे। किन्तु सन्त एकनाथ ने इन पर अपनी दृष्टि से जो प्रकाश डाला है, वह इस प्रकार है।

१. भागवत-धर्म:—जो देह में आत्म-बुद्धि रखता है या जो विषय सुख चाहता है, वह सदा आधि-व्याधि के बन्धन में रहता है। इन मायिक विषयों पर विजय प्राप्त करने का सुलभ मार्ग ईश्वर-भजन ही है। किन्तु यह भजन अपनी सभी इन्द्रियों द्वारा होना चाहिए। जैसे:— मन से भगवान् का चिन्तन करना, कानों से हरिकथा सुनना, जिह्वा से अहर्निश हरि-कीर्तन करना आदि। इस

प्रकार की भक्ति से अन्तःकरण में प्रभु-प्रेम बढ़ता है, जिससे आत्मज्ञान होकर जीव-ईश्वर-सम्मिलन दिखाई पड़ता है। तब तीनों अवस्थाओं में परमात्मानुसन्धान ही होता है और भक्त के हृदय में प्रतिक्षण आनन्द की लहरें उठने लगती हैं। इस प्रकार की निर्द्वन्द्व स्थिति हो जाने पर वह 'जीवन्मुक्त' अभिधान का पात्र हो जाता है।

२. भागवतों के लक्षण:—भागवतों के लक्षण हैं, विषय, विरक्ति, निरभिमानता, जगदीश्वरैक्य की भावना और प्रीतियुक्त ईश्वर भक्ति। भागवत के सब विषय नारायण रूप हो जाने से जीव और ईश्वर में भेद दिखलाने वाला देहाभिमान नष्ट हो जाता है और अहंबुद्धि नष्ट हो जाने पर आत्मतत्व का बोध होने लगता है। तब भागवत अपने को सभी भूतों में और सभी भूतों को अपने में देखता है। ऐसी अवस्था में कामादि ताप भक्त को नहीं सता पाते और सदैव भक्ति में निमग्न रहने से वह आध्यात्मिक उन्नति के परमोच्च शिखर तक पहुँच जाता है। इस प्रकार का भागवत सर्वश्रेष्ठ है।

३. माया का स्वरूप:—माया के स्वरूप की चर्चा करना निरर्थक है क्योंकि उसका अस्तित्व न होते हुए भी वह भासमान होती है। जैसे मृगजल की महानदी किस पर्वत से निकली है यह बतलाना असंभव है, वैसे ही माया के उद्गम स्थान की खोज करना असंभव है। इसीलिए उसे 'अनिर्वचनीय' कहा गया है। जैसे आकाश अलक्ष्य होते हुए भी उसमें निलिमा दिखाई पड़ती है, वैसे ही सत्यरूप

परब्रह्म में माया का आभास होता है। भ्रम माया का मूल है और भ्रान्ति उसका फल है। अज्ञान-अवस्था में उसका अस्तित्व है, किन्तु ज्ञानावस्था में वह विलीन हो जाती है। अपने ही संकल्प-विकल्प से उत्पन्न होने वाली माया एक शक्ति है। इसी माया के कारण निर्विकार आत्मतत्व की विस्मृति हो जाती है और देहाभिमान से इन्द्रियों की विषयासक्ति बढ़ती है। विषय-कामना से किये हुए कर्मों में बन्धन आ जाता है और धर्माधर्म, पाप-पुण्य आदि के प्रश्न खड़े हो जाते हैं, जिससे मनुष्य जन्म-मरण के अटल चक्र में फँस जाता है।

४. माया से छूटने का उपायः— माया से छूटने के उपाय हैं विषय-विरक्ति, सद्गुरु की शरणागति और भागवत-धर्मों का आचरण। जो लोग सांसारिक या स्वर्गीय विषय-भोगों की इच्छा से काम्यकर्म करते हैं वे माया के जाल में फँसे होते हैं। विषयों की नश्वरता समझने के लिए सुयोग्य सद्गुरुकी शरण जाना आवश्यक है। गुरु के समझाने से द्वैत की भावना नष्ट हो जाती है। उनकी शरण जाने से वे भागवत-धर्म का उपदेश करते हैं जिससे साधक माया से छूट जाता है। भागवत्-धर्म के मुख्य अंग है, निःसङ्गता शौच, मौन और संतोष। इनके साधन से शिष्य माया से मुक्त हो जाता है।

५. ब्रह्म का स्वरूपः— ब्रह्म त्रिभुवन में व्याप्त है और हृदयस्थ आत्मा उसी का रूप है। वह उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय, तानों अवस्थाओं में एक रूप रहता है।

उसका यथार्थ वर्णन करने के लिए शब्द अपर्याप्त हैं। ब्रह्म से ही समस्त इन्द्रियों की सृष्टि होती है, फिर भी इन्द्रियों से परब्रह्म का ज्ञान असम्भव है। मनुष्य के मन में पूर्व संस्कार के कारण रज-तमयुक्त कर्मों से उत्पन्न मल रहता है। उस मल को भक्ति के साधन से धोकर चित्त स्वच्छ करना चाहिए। चित्तवृत्ति के निर्मल होने से सर्वभूतस्थ परमात्मा उसमें प्रकाशित होता है। उस अवस्था में हृदय में परमेश्वर का जैसा रूप हो,वही ब्रह्म है। किसी ने कहा भी है कि "जो मनकी खटपट मिटै,तो चटपट दर्शन होय"

६. कर्मयोग की परिभाषाः— कर्माकर्म को विवेचना करना अत्यन्त कठिन समस्या है। कर्म, अकर्म और विकर्म एक दूसरे से वैसे ही पृथक् नहीं किये जा सकते, जैसे कोमल, मधुर और श्वेत मक्खन में से कोमलता, मधुरता, और श्वेतता। निष्काम बुद्धि से किया कर्म भव-बन्धन काटने का प्रबल साधन है। अतः मोक्ष के लिए निष्काम बुद्धि से वेदोक्त कर्म कर उन्हें ईश्वरार्पण कर देना चाहिए। इस प्रकार देहाभिमान से रहित तथा ईश्वरार्पण बुद्धि से किये जितने भी कर्म हैं, सब बन्धन-च्छेदक होते हैं और उनका अन्तिम परिपाक परम समाधान है। यही कर्म योग है।

७. परमेश्वर के अवतार-चरित्र :—विराट् पुरुष से लेकर परमेश्वर के अनेक अवतारों का वर्णन भागवत में विस्तृत रूप से किया गया है। वही एकनाथ जी को भी मान्य है।

८. अभक्तों की गति :—अभक्तों के लक्षण हैं, ज्ञानाभिमान, धनाभिमान, विषयलोलुपता और साधु निन्दा। ज्ञानाभिमानी लोग अध्यात्म की शाब्दिक चर्चा में ही लगे रहकर ईश्वर को शरण नहीं जाते और अपनी कर्मठता का अवलम्ब ग्रहण करते हैं। धनाभिमानी लोग अपने सारे धन का उपयोग विषय भोग में ही करते हैं, धर्म के लिए नहीं। इसी तरह काम्यकर्म करने वाले विषयलोलुप अभक्त अपना ही अहित करते हैं। ऐसे अभक्तों के भाग्य में अधःपतन ही लिखा है।

९. युगानुरूप विशेष नाम-रूप-वर्ष-आकार विशिष्ठ ईशोपासना के प्रकार :—चारों युगों में जिस प्रकार की पूजा की विधि मूल भागवत में नियत की गयी, है, वही एकनाथजी को स्वीकृत है। फिर भी उन्होंने कलियुग की पूजा विधि का विवेचन विस्तार के साथ किया है। उनका कहना है कि इस युग में परमेश्वर का नामस्मरण ही मोक्ष का अत्यन्त प्रभावशाली साधन है। नाम-कीर्तन की ध्वनि सुनकर भगवान् अपने भक्त को 'सामीप्य-मुक्ति' देते हैं। जो चतुर्भुज मूर्ति का ध्यान करता है उसे 'सारूप्य-मुक्ति' मिलती है और परमेश्वर का साक्षात्कार हो जाने से भक्त को 'सायुज्य-मुक्ति' मिलती है।

उपर्युक्त विवेचन निश्चय ही परमार्थ-पथ का पथ-प्रदर्शक देदीप्यमान दीप है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि भागवत एक प्रामाणिक ग्रन्थ है और उसमें वेदान्त के सभी अंग दर्शाए गये हैं यदि ऐसा न होता, तो महाराष्ट्र के सन्त एकनाथ महाराज उसपर इतनी बहुमूल्य अध्यात्म प्रधान टीका न लिख पाते। (क्रमशः)

अमेरिकन के लिए वेदान्त

श्री सी. ई. स्ट्रीट, न्यूयार्क

स्वामी विवेकानन्द ने अनेक प्रसंगों में कहा है कि मनुष्य, जाने हो या अनजाने, मुक्ति की खोज में लगा हुआ है। रास्ते अलग-अलग हो सकते हैं, छोटे या लम्बे, भले या बुरे हो सकते हैं; पर अंत में उन सबका पर्यवसान उसी परम स्वातंत्र्य—मुक्ति—की अवस्था में होता है, जिसे पूर्णता कहते हैं।

अमेरिका में बड़ी हलचल है, पिण्ड न छोड़नेवाली बेचैनी है। यदि हम सूक्ष्मता से विश्लेषण करें, तो देखेंगे कि वह भी एक प्रकार से मुक्ति की खोज है। भले ही अनेक दशाओं में वह खोज जान-बूझकर नहीं है। और अधिकांश लोगों में तो, जैसा कि सर्वत्र होता है, अहंता की मात्रा इतनी अधिक है कि यथार्थ मुक्ति की ओर सीधी प्रगति सम्भव नहीं हो पाती।

कई लोगों के लिए 'अच्छा जीवन' ही लक्ष्य है। उनका 'अच्छे जीवन' से तात्पर्य है—क्रियाशील रहना, क्लब-तमाशे इत्यादि से फ़ुरसत न पाना और पास में पर्याप्त धन एवं सुखोपभोग की सामग्री होना। वे उसी को 'जीना' समझते हैं, जब पास में इन्द्रियों की तुष्टि और विषय-भोग के अधिक-से-अधिक साधन हों। विज्ञान

और तकनीक की उन्नति ने अनगिनत ऐसे नये साधनों को जन्म दिया है, जिनके द्वारा जीवन के भौतिक पक्ष को उर्जित्त और उसकी अभिवृद्धि की जा सकती है।

यह अबाध गतिशीलता और बेचैनी, प्रकृति के रहस्यों की यह छानबीन और फलस्वरूप उत्पन्न यह तकनीकी उन्नति भले ही कुछ लोगों को भ्रमित करे या बाधा पहुँचाये, पर दूसरों को उत्तेजना और स्फूर्ति प्रदान करती है। खोज इसी प्रकार बड़े उत्साह से चलती रहती है।

फिर दूसरी ओर, आधुनिक विकासों की तीव्र गति ने पहले के सोचने-विचारने और रहने के तौर-तरीकों को अनिवार्य रूप से पीछे ढकेल दिया है। इसके फलस्वरूप बहुत से लोगों में अशान्ति और भ्रम का जन्म हुआ है। इसीलिए लोगों में, किसी प्रकार की सुरक्षा प्राप्त करने की आशा से, पीछे लौटने के प्रयास भी दिखाई देते हैं। आज के विश्व की अस्थिरता ने, महायुद्ध की सतत आशंका ने, मानव वंशों के बीच पनपते तनावों ने तथा आज दिखाई पड़नेवाले दूसरे संघर्षों और विरोधों ने इस विभ्रम को और भी बड़ा कर दिया है।

मोटे तौर पर, यही एक साधारण चित्र है अमेरिका की जीवनधारा का, जो बरसों से प्रवाहित होती चली आ रही है। हमें तो उन अल्प लोगों से ही सरोकार है, जिन्हें सोचने-विचारने और रहने के सर्वमान्य तरीकों में पूर्ण सन्तोष नहीं प्राप्त होता। कुछ दूर तक ये ही अल्प

लोग समझ-बूझकर जीवन के गम्भीरतर अर्थ के अन्वेषक बनेंगे, और हो सकता है कि उस सत्य को पाने की आशा से वे इधर-उधर भटकते फिरें। उन्हें जिन रास्तों से होकर गुजरना पड़ेगा, उन सबका विवेचन और विश्लेषण सम्भव न होगा; यहाँ तक कि जो आदर्श मार्ग समझे जाते हैं उन सबकी भी चर्चा सम्भव न हो सकेगी। तथापि आइए, कतिपय कार्यों और संस्थाओं की चर्चा करें और देखें कि वे क्या कहते हैं।

१.

सर्वप्रथम, हम क्रिश्चियन चर्च को लेंगे, विशेष करके प्रभावशाली प्रोटेस्टेंट चर्च को, क्योंकि बहुत से सत्यान्वेषी उसी के प्रभाव में पले होते हैं। आधुनिक प्रोटेस्टेंट कुछ विपरीत सी अवस्था में है। प्रोटेस्टेंटों में जो परम्परागत संरक्षणशील दल के हैं, उनकी मान्यताओं को विज्ञान के दर्शन और नवीनतम आविष्कारों ने गहरी चुनौती दी है। इसके फलस्वरूप, उनमें तरह-तरह की प्रतिक्रियात्मक लहरें उठी हैं और वे अभी तक विज्ञान के साथ अपनी संगत नहीं बिठा सके हैं। चर्च की सदस्य-संख्या भले ही बढ़ रही है, तथापि यह निष्कर्ष भी टाला नहीं जा सकता कि ईसाई धर्म प्रभावहीन होता जा रहा है। वास्तव में, चर्च के सदस्यों में भी भौतिकवादी प्रवृत्तियाँ क्रमशः बढ़ती जा रही हैं और उनमें इने-गिने ही लोग ऐसे होंगे, जो चर्च के बाहर धार्मिक विषयों पर चर्चा करते हैं।

पर तो भी, ईसाई धर्म के इतिहास और उपदेशों का गम्भीर और सार्वभौतिक आकर्षण है। उसके उपदेशों ने आदर्श से भरे कई महान् कार्यों को अनुप्राणित किया है। इसके प्रमाण में सुदूर अतीत और अभी-अभी बीते युग के महान् सन्तों और मसीहाओं की उज्जवल जीवन-गाथाएँ हैं। यदि हम प्रथाओं को भी देखें—उन महान् ग्रन्थों को, प्रेरणाप्रद क्रिया-अनुष्ठानों को और प्राचीन गिरजाघरों को, तो उस जीते जागते अतीत की शक्ति का हम अनुभव करेंगे। अतीत के महान् नेताओं और संस्थापकों से हमें अखण्ड नैरन्तर्य का बोध होता है।

जो लोग ऐसे विश्वास में पले हैं, उनके लिए विज्ञान का आकर्षण और भी कम होगा। बचपन के अनुभवों का उन पर गहरा और अमिट प्रभाव पड़ा रहता है। बचपन की जानी और सीखी बातों के प्रति उन्हें आत्मीयता का बोध होता है और उनका अभाव उन्हें खलता है। समय के साथ ये बातें सुनहरी आभा के साथ स्मृति-पटल पर अंकित हो जाती हैं।

कई लोग आज भी सरल, प्राचीन मत-विश्वास का आश्रय लेकर बड़े होते हैं। यदि यह मत-विश्वास केवल औपचारिकता न हो कर प्राणवान् हो, तो वह उन पर अपना स्थायी प्रभाव डाल देता है, फिर भले ही वे बाद में उसके अधिकांश उपदेशों को ग्रहण न कर सकें।

अब हम इन संरक्षणशील प्रोटेस्टैंट सिद्धान्तों को

अधिक निकटता से देखें। वे मूलभूत द्वैतवाद से शुरू होते हैं, उनका प्रारम्भ ईश्वर और मनुष्य के पार्थक्य से होता है। यह पार्थक्य मनुष्य के पाप के कारण होता है, इसलिए मनुष्य उसे दूर नहीं कर सकता। मुक्ति (salvation) एकमात्र ईश्वर ही दे सकता है। मनुष्य का कर्तव्य है इस तथ्य पर बालकवत् विश्वास रखना और अपने आपको ईश्वर की इच्छा के अधीन कर देना। यह धारणा कि मुक्ति केवल विश्वासजन्य है कमजन्म नहीं, प्रोटेस्टेंट सिद्धान्तों की एक मुख्य बात है।

सर्वप्रथम चर्च के ही पास विश्व का समूचा दर्शन था। विश्व की उत्पत्ति कैसे हुई, उसकी चरम गति क्या है और मनुष्य का इस विश्व में क्या स्थान है—इन सब प्रश्नों के उत्तर चर्च के ही पास थे। चर्च को ये उत्तर कहाँ से प्राप्त हुए? ईसाई धर्म-विश्वास के अनुसार, ये उत्तर ईश्वर की उस परोक्ष और निर्भ्रान्त प्रेरणा पर आधारित हैं, जिसका उल्लेख हमें बाइबिल में प्राप्त होता है। यह प्रेरणा विभिन्न मसीहाओं को प्रदान की गयी थी और इसका पूर्ण रूप हमें ईसा मसीह के जीवन और कार्यों में दीख पड़ता है। उसके अनुसार, समय स्थिर है, क्योंकि वह मानता है कि समय का प्रारम्भ था और उसका अन्त होगा। विश्व का समूचा इतिहास मानो ईश्वर की योजना और मानव-सम्बन्धों का एक विराट् अभिनय है। विश्व और मनुष्य की उत्पत्ति तथा पाप और प्रथम दम्पति के पतन से उस इतिहास का प्रारम्भ होता है। उसके बाद

का इतिहास मनुष्य के उद्धार के लिए ईश्वर की योजना का प्रकाशन है। इस योजना का प्रारम्भ ईश्वर की उस तैयारी से होता है, जब वे इसराइल (याकूब) की सन्तानों को अपना विशेष कृपापात्र चुनते हैं।

कालान्तर में, उद्धारकर्ता (ईसा मसीह) का आविर्भाव होता है। वे आते हैं, यातनाएँ सहते हैं और संसार के पापों के मार्जन के लिए सूली पर झूल जाते हैं। तब से इतिहास का कार्य 'ईसा के गौरवपूर्ण प्रत्यावर्तन' और 'अन्तिम फैसले' की बाट जोहता हुआ, ईसा के सन्देश का विश्वव्यापी प्रचार करना हो जाता है। पापों से मुक्ति विश्वास से होती है, वह संकल्पशक्ति की एक क्रिया है। भले ही इस प्रकार का निश्चय किसी की जीवन-धारा को सम्पूर्णतः मोड़ दे, तथापि वह किसी प्रकार 'अनुभूति' के समकक्ष नहीं है। इस योजना में रहस्यवाद को विशेष स्थान प्राप्त नहीं है, भले ही कुछ रहस्यवादी लोग हो चुके हैं और कुछ रहस्यवादात्मक गतिविधियाँ भी हो चुकी हैं। सार बात यह है कि सरल विश्वास ही पर्याप्त है, क्योंकि जो अपने मत-विश्वास के प्रति सच्चे हैं उन्हें मरणोत्तर जीवन में सब कुछ प्राप्त होगा।

यह ईसाई मत की एक मोटी रूपरेखा है। प्रस्तुत विवेचन में इतना ही जान लेना पर्याप्त होगा। जो व्यक्ति ऐसे मत में पला हुआ होता है, वह जब बड़ा होता है, तो आधुनिक ईसाई धर्म के विभिन्न मतवाद और समस्याएँ उसके सामने अनिवार्य रूप से आती हैं। उसकी

पृष्ठभूमि की कट्टरता और संरक्षणशीलता जितनी ही तीव्र होगी, उतनी ही तीव्र उसके भीतर की उथल-पुथल भी होगी। स्वाभाविकतया, तारुण्यावस्था जिज्ञासा और प्रतिक्रिया की अवस्था होती है। बहुधा यही ऐसा समय है, जब मनुष्य को नये विचारों का अर्थ और उनकी चुनौती समझ में आती है। ऐसे व्यक्ति की धार्मिक जिज्ञासा समय, बौद्धिक परिवेश और पृष्ठभूमि की भिन्नता के कारण भिन्न-भिन्न हुआ करती है। पर, आज भी, संघर्ष का जो सामान्य कारण है वह है—आधुनिक विद्वत्तापूर्ण और वैज्ञानिक विचारों से प्रथम सम्पर्क। ये विचार बाइबिल की उत्पत्ति, उसके लिखनेवाले और उसकी ऐतिहासिक सत्यता के सम्बन्ध में आधुनिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं और साथ ही विश्व की उत्पत्ति और विकास के नये सिद्धान्त भी हमारे सामने रखते हैं। ये आधुनिक सिद्धान्त प्राचीन मतवाद के कई मूलभूत सिद्धान्तों को सीधे काट देते हैं।

यह जो मान्यता है कि बाइबिल ईश्वर की प्रेरणा है, वह अस्वीकृत कर दी जाती है, क्योंकि वैज्ञानिक आविष्कारों के साथ उसमें वर्णित कई बातों का विरोध है। वास्तव में, यह जो वस्तुगत दिव्य प्रेरणा (objective revelation)की धारणा है, उस पर एक बड़ा प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया गया है। क्रमविकास का वैज्ञानिक सिद्धान्त बाइबिल में वर्णित मूल पाप की बात को अस्वीकार कर देता है और इसलिए, पाप के आधार पर ईश्वर

और मनुष्य का पार्थक्य बतानेवाले सिद्धान्त को भी अस्वीकृत कर देता है। अलौकित घटनाओं या चमत्कारों को सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है और इसलिए यह विश्वास भी परित्यक्त हो जाता है कि ईश्वर का इतिहास के निर्माण में कोई व्यक्तिगत हाथ है। इसी प्रकार के और भी कई विरोध सामने आते हैं।

सामान्य रूप से, यह सृष्टि और इतिहास सम्बन्धी दो दृष्टिकोणों का झगड़ा है। एक दृष्टिकोण है सम्पूर्णतः वैज्ञानिक, जो तर्कसंगत व्याख्या प्रस्तुत करता है; और दूसरा दृष्टिकोण अलौकिक व्याख्या सामने रखता है। बीते वर्षों में इन विषयों पर काफी विवाद होता आया है। यह कुछ दशकों पूर्व की ही बात नहीं है, क्योंकि प्राचीन मान्यताओं की जड़े बहुत दूर फैली हुई हैं। ईसाई धर्म के संरक्षणशील और उदार दलों में अभी भी विरोध कायम है और इस प्रकार का विरोध या पार्थक्य सभी नामधारी सम्प्रदायों में विद्यमान है।

आधुनिक वैज्ञानिक और गवेषणापूर्ण ज्ञान के उत्थान ने तथा प्रचीन संरक्षणशील सिद्धान्तों के साथ उसके विरोध ने साधारण रूप से तीन प्रकार की प्रतिक्रियाओं को जन्म दिया है। एक तो हैं कट्टरपन्थी, अत्यन्त संरक्षण-शील विचार धारा के लोग। वे या तो आधुनिक विचारों की उपेक्षा कर देते हैं या कसकर उनका विरोध करते हैं। दूसरी ओर हैं अति उदार विचारवाले लोग। ऐसे लोग परम्परागत मतवाद के बहुत बड़े अंश को छोड़ देते हैं

और आधुनिक विचारों को बड़ी तत्परता से ग्रहण करते हैं। वे आधुनिक ज्ञान की भित्ति पर एक नये धार्मिक मतवाद का सौध खड़ा करना चाहते हैं। सबसे अधिक संख्या तो उन लोगों की है, जो इन दोनों के बीच में हैं— कुछ अधिक इधर, कुछ अधिक उधर। ये वैज्ञानिक चुनौती के प्रति उतने सजग नहीं हैं। वे भले ही कतिपय नवीन विचारों का ग्रहण कर लें, पर उनका अधिक प्रयत्न यही होता है कि किसी प्रकार प्राचीन मतवाद की डगमगाती नौका को फिर से स्थिर कर लें। उनके पास समूचे रूप से कोई विश्व-दर्शन नहीं होता, और न उनको इसकी आवश्यकता ही प्रतीत होती है। वे तो बस जहाँ तक बन सके अपनी मध्य की स्थिति को कायम रखना चाहते हैं, भले ही ऐसी स्थिति विश्व और मनुष्य के प्रति एक सामान्य और तर्कसंगत दृष्टि के साथ किसी प्रकार मेल नहीं खाती।

जो व्यक्ति संरक्षणशील विचारों में पला है पर अब उनमें आस्था नहीं रख पाता, उसके लिए चर्च में दो विकल्प हैं। एक सीमित वर्ग ऐसा है जो विचार में अस्पष्ट है, जिसकी बुद्धि उलझी हुई है। विशेष विषयों पर यदि वह विचार करता भी है, तो अलग-अलग रूप से; और वह किसी भी प्रकार वैज्ञानिक विचारधारा से अपनी संगति बिठाने में ही प्रयत्नशील रहता है। ऐसी संगति केवल ऊपरी और अत्यन्त अस्पष्ट रहती है। यह वर्ग समझ नहीं पाता कि प्राचीन मतवाद एक प्राणवान् पिण्ड

के समान है जिसमें आन्तरिक संगति है। अतः यह तर्क-संगत नहीं है कि हम इधर से कुछ निकाल लें, उधर से कुछ काट लें और शेष को वैसा ही छोड़ दें बहुत सम्भव है, आधुनिक ईसाई धर्म में बहुधा जो अस्पष्टता और आस्तिकता विरोधी भाव दिखाई पड़ते हैं, उनका अधिकांश उपयुक्त प्रवृत्ति से ही जन्मा हो।

उदार दल वाले भी कोई सन्तोषजनक विकल्प सामने नहीं रखते। हाँ, जो बात बुद्धिसंगत नहीं है, उसे अस्वीकार कर देने में वे अधिक सच्चे हैं, पर कोई नया तत्व खड़ा करने में वे भी असफल हुए हैं। विज्ञान की चरम स्थितियों के साथ उदारवादियों का भी विरोध है और उन्होंने एक नवीन तथा संगतिपूर्ण विश्व-दर्शन के निर्माण में बहुत थोड़ा प्रयत्न किया है। अतः वे भी अधिकतर धर्म और दर्शन के प्रश्नों पर अस्पष्ट ही हैं।

ईश्वर की रक्षा-शक्ति में विश्वास ही संरक्षणशील विचारधारा का प्राणकेन्द्र है। उदारवादी इस सम्बन्ध में उतना स्पष्ट नहीं है। उसने ईश्वर के स्थान पर आदर्शवाद को बिठाने का प्रयत्न किया है और विश्व की समस्याओं के हल के हेतु उसने सामाजिक कल्याण, सेवा और सुधार पर अधिक बल दिया है। अवश्य ही ये लक्ष्य महान् हैं, पर यदि इन्हीं कार्यों को हम धर्म का सार और अन्तिम गति मान लें, तो वे अवश्य हमें निराशा ही प्रदान करेंगे। प्रश्न उठ सकते हैं—सच्ची सेवा क्या है? किसी व्यक्ति का सच्चा उपकार कब होता है? फिर, संकट और असफलता

के दिनों में हम किसके सहारे बचे रहेंगे? उदारवादी इन प्रश्नों का क्या उत्तर देंगे? उनमें अनिश्चितता है, मार्ग दर्शन का अभाव है।

इन समस्याओं पर काफी विचार किया जा चुका है। इन कतिपय वर्षों में कई विचारधाराओं ने जन्म लिया है—जैसे, क्राइसिस थियोलोजी (crisis theology), नियो आर्थोडाक्सी (neo-orthodoxy), क्रिश्चियन अस्तित्ववाद (christian existentialism), नियो थोमिज्म (neo-thomism), एक्युमेनिकल मूव्हमेंट (ecumenical movement), इंटेंशनल कम्यूनिटीज़ (intentional communities)और कतिपय प्रायोगिक रहस्यवादी दल। यह सूची भी पर्याप्त नहीं है। अतः निष्कर्ष यही है कि जीवनीशक्ति अभी भी विद्यमान है। पर यदि प्रोटेस्टैंट मत सचमुच में नवीन जीवन चाहता है और आधुनिक विचारधारा की प्रमुख प्रणाली के साथ अपना सार्थक सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है, तो धर्म का पुनरुद्धार आवश्यक है।

सर्वत्र असफलता हाथ लगने का मूल कारण यह प्रतीत होता है कि धार्मिक अनुभूति और आध्यात्मिक साधनाओं पर बल नहीं दिया गया। विकल्प हैं—विश्वास और सेवा, या इन्हीं का कुछ जोड़-घटाना। ये दोनों अनुभूतिनिष्ठ की बजाय वस्तुनिष्ठ अधिक हैं और इसका फल है आध्यात्मिक क्षयग्रस्तता।

ईसाई धर्म के विभिन्न मतवादों में महान् आदर्श-

वादिता है और उनमें से कई स्वार्थहीनता की ओर क्रमशः बढ़ते चले जाते हैं तथा ईश्वरानुभूति के मार्ग पर पहुँचा देते हैं। कई तो उपासना और सेवा के उच्च आदर्शों से अनुप्राणित हैं। और तब भी कुछ सत्यान्वेषियों को सन्तोष नहीं प्राप्त होगा, क्योंकि उन्हें या तो स्वतंत्रता का अभाव मिलेगा या धार्मिक अनुभूति का, और कभी-कभी तो इन दोनों का। कम से कम कुछ व्यक्ति तो ऐसे हैं जिन्हें कुछ अधिक की चाह होगी।

२

अच्छा, विज्ञान क्या कहता है? उसने परम्परागत विश्वास की इमारत को ढहा दिया है और एक विजय से दूसरी विजय की ओर बढ़ता गया है। क्या वह बदले में जीवन का कोई ऐसा दर्शन देता है, जिसे हम ग्रहण कर सकें।

विज्ञान को कुछ लोग नियमों और सिद्धान्तों का एक समवाय मानते हैं। विज्ञान के क्षेत्र में आज तक जितनी गवेषणाएँ हो चुकीं, उन सबका योग ही विज्ञान के नाम से गृहीत होता है। इन नियमों, सिद्धान्तों और गवेषणाओं के आधार पर जिस सब शिल्पविज्ञान की उन्नति हुई है, वह भी कभी-कभी विज्ञान के अर्थ के दायरे में ले लिया जाता है। पर अधिक तात्त्विक रूप से, विज्ञान सत्य को—तथ्यों और पारस्परिक सम्बन्धों को—परखने की कसौटी है। उसने सूक्ष्म परीक्षण-प्रणाली का विकास

किया है, जो भौतिक और तर्कसंगत उपायों का सुन्दर योग है। अभी तक इससे अधिक शक्तिशाली बौद्धिक उपकरण का आविष्कार नहीं हुआ था।

उद्देश्य की सर्वोच्चता ही सत्य के प्रति अनुरक्ति है, फिर वह चाहे जहाँ ले जाकर सत्यान्वेषी को खड़ा कर दे। विज्ञान के क्षेत्र में किसी चरम या अन्तिम या निस्सन्दिग्ध सत्य पर पहुँचने की आशा नहीं रखी जा सकती, क्योंकि इस प्रकार की आशा विज्ञान की भौतिक प्रवृत्ति का विरोध करेगी। पर उसका आदर्श ऐसा है कि आवश्यकता पड़ने पर पहले की धारणाओं को बदला जा सकता है; जिन सिद्धान्तों को हृदय में सँजोया गया था उनके विरुद्ध यदि प्रमाण इकट्ठे हो जायँ, तो उनका त्याग कर दिया जाता है।

सत्य के प्रति यह अनुरक्ति, असीम उत्सुकता के साथ, कल्पना में आने वाले प्रत्येक विषय के पीछे जाती है। सैद्धान्तिक रूप से विज्ञान किसी ऐसे प्रश्न को नहीं मानता जिसका उत्तर ही न दिया जा सकता हो। स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट सीमाओं के भीतर किसी प्रश्न का उत्तर न दिया जा सकना एक अपवाद हो सकता है। आधुनिक भौतिक शास्त्र का अनिश्चितवाद का तत्त्व ऐसे अपवाद का एक उदाहरण है। वैज्ञानिक के अनुसन्धायी मन के लिए कोई विषय इतना कठिन, इतना सूक्ष्म या इतना पवित्र नहीं है कि वह इस विषय में न लग सके। तात्पर्य यह है कि ज्ञान के क्षेत्र को टुकड़ों में बाँटने का

प्रयास अन्ततोगत्वा विज्ञान के द्वारा सम्मत न हो सकेगा। यदि किसी विषय का 'सत्य-असत्य-सम्भव' उत्तर हो सकता है, तो अन्त में उसे वैज्ञानिक विश्लेषण के अन्तर्गत आना होगा। यदि आज कोई विषय इतना कठिन या जटिल है कि सफलतापूर्वक उसके सम्बन्ध में अनुसन्धान नहीं किया जा सकता, तो यह मान लेना चाहिए कि ज्ञान की उन्नति के साथ एक दिन वैज्ञानिक प्रणाली से उसका स्पष्टीकरण किया जा सकेगा। यदि ऐसे विषयों को, उनकी जटिलता या कठिनता के कारण, दर्शन, धर्म या इसी प्रकार के अन्य किसी क्षेत्र में सुरक्षित रख देने का प्रयास किया जाय, तो विज्ञान इसका प्रतिवाद करेगा। इसका अर्थ यह नहीं है कि विज्ञान, जीवन के सौन्दर्यात्मक और भावनात्मक पहलुओं को प्रश्रय देनेवाले कला और धर्म को अस्वीकृत कर देता है। तात्पर्य यह अवश्य है कि यदि कोई उक्ति सत्यपरक है, तो विज्ञान ही अपील का अन्तिम कोर्ट है।

विज्ञान के मापदण्ड अत्युच्च हैं और वे निर्ममता से अति स्पष्ट चिन्तन प्रणाली की माँग करते हैं। मापदण्ड के स्तर को बनाये रखने के लिए इतना पर्याप्त है कि वैज्ञानिक अपने अन्य सहयोगी वैज्ञानिक की आलोचना करने में किसी प्रकार की हिचक न करे। विज्ञान सभी अवस्थाओं में वस्तुनिष्ठ स्पष्टीकरण की माँग करता है और यह चाहता है कि सभी प्रयोग ऐसे हों, जो स्वतंत्र शोधकर्ताओं द्वारा परीक्षण की कसौटी पर कसे जा सकें।

विज्ञान की प्रणाली की इस सब सूक्ष्मता और कठिनता के बावजूद भी उसका एक शुद्ध भावनात्मक सौन्दर्य है, जो किसी समस्या के स्पष्ट और तर्कसंगत समाधान से निखर उठता है। साधारण तौर से गणित को जो प्रणालियाँ उपयोग में लाया जाती हैं, उन्हीं से बहुधा विज्ञान के इस भावनात्मक पक्ष की अनुभूति होती है। इस सौन्दर्य का अभिव्यक्त करने का प्रिय शब्द है—उस विशेष समाधान या विवरण का 'सौष्ठव' (elegance)।

यह नहीं सोच लेना चाहिए कि विज्ञान की प्रणाली उतनी नीरस रूप से तार्किक है जितनी बहुधा उसे बताया जाता है। वास्तव में, व्यक्तिगत सिद्धान्तों और दृष्टिकोणों के प्रति पर्याप्त भावात्मक लगाव रहता है, भले ही इस तथ्य को बहुधा स्वीकार न किया जाता हो। इसके फलस्वरूप, अलग-अलग मत का पोषण करने वालों के बीच अनेक समय प्रतिस्पर्धा और बौद्धिक संघर्ष के अवसर उपस्थित हो जाते हैं। असल में, होड़ लेने की यह भावना और साथ ही जो परिणाम निकलें उन्हें स्वीकार कर लेने की तत्परता ही विज्ञान को शक्ति प्रदान करती है।

कोई वैज्ञानिक प्रकृति के प्रति सम्भ्रम और अचरज का भाव रख सकता है और नहीं भी रख सकता है। आधुनिक विज्ञान की वस्तुनिष्ठा और उसका विशिष्टीकरण तथ्यों और आँकड़ों में ध्यान को केन्द्रित रखना चाहता है। तथापि, जब हम प्राप्त परिणामों पर विचार करते हैं और विश्व की उदीयमान छवि की ओर दृष्टि-

पात करते हैं, तो ऐसी भावनाओं का अनुभव सहज ही किया जा सकता है। आकाश की अनन्त गहराइयाँ, अनगिनत तारिकाएँ, आकाशगंगा तथा लक्ष-लक्ष वर्षों से चलता आया ग्रहों, नक्षत्रों और तारिकाओं का क्रम विकास—ये कुछ ऐसी बातें हैं जो अनिवार्य रूप से मनुष्य की कल्पना को मूल से हिला देती हैं और मनुष्य की नगण्यता का, विश्व में उसकी अनिश्चित स्थिति का भान करा देती हैं। ऐसे विचार और भी बृहत् रूप धारण करते हैं, जब मनुष्य कल्पनातीत काल से प्रवहमान जैविक क्रमविकास पर मनन करता है और विचार करता है कि कैसे विविध प्रकार के जीव उत्पन्न हुए, रहे और मृत्यु के कराल गाल में समा गये।

जब हम पुरातत्त्व विद्या और इतिहास का अध्ययन करते हैं तो वे महान् व्यक्ति हमारी आँखों के सामने आ जाते हैं जो इस धरती पर आकर अतीत के अज्ञात गर्भ में समा गये। एक प्रकार का अवसाद हमारे मन पर छा जाता है। विचार उठने लगता है कि कहीं परिवर्तित अवस्थाओं में अन्त में मनुष्य को ही किसी श्रेष्ठतर योनि के लिए रास्ता छोड़कर न हट जाना पड़े? और यदि ऐसा न भी हो, तो सूर्य की ऊर्जा के क्षय के साथ-साथ विश्व का नाश अवश्यम्भावी है। तब पृथ्वी और अन्य ग्रह चिर हिमानी के अंक में सदा के लिए समा जायेंगे।

जब हम उन्मुक्त गगन में छिटके हुए तारां की ओर देखते हैं तो सोचने लगते हैं कि क्या उनके भी ग्रह-मण्डल

हैं, क्या वहाँ भी किसी प्रकार के मस्तिष्क वाले जीव अपनी सभ्यताओं, कलाओं, विज्ञानों और धर्मों के साथ विद्यमान हैं ? इन सब बातों को जान लेने की तीव्र इच्छा होती है, पर आकाश का अनन्त विस्तार हमें उत्तर नहीं मिलने देता, और साथ ही हमारा जीवन इतना अल्प है कि वह वर्तमान के सीमित उत्तरों में ही घिरा रह जाता है।

वास्तव में, इन प्रश्नों के उत्तर में समूचा एक साहित्य ही उठ खड़ा हुआ है। यह एक आनुमानिक साहित्य है. वह विज्ञान का उपन्यास है, जिसे 'वैज्ञानिक उपन्यास' कहा जाता है। उसके विषय हैं—अन्य लोक और कालावधियाँ, सुदूर अतीत और भविष्य। वह अन्य आयामों और भूमिकाओं के सम्बन्ध में अनुमान करता है और खोजना चाहता है कि वहाँ क्या पाये जा सकते हैं यद्यपि इस प्रकार से प्राप्त उत्तर अत्यन्त विषम होते हैं, तथापि वह अपनी खोज के लिए असंयत कल्पना का सहारा नहीं लेता, वह तो आधुनिक ज्ञान की आधारशिला पर ही अपने अनुमान-सौध को खड़ा करता है। वह हममें विश्व के अक्षय विस्तार के प्रति अचरज का भाव भर देता है। वह सब कुछ जान लेने की इच्छा को प्रति-विम्बित करता है वह वैज्ञानिक ज्ञान के अनिवार्य सीमित स्वरूप पर अधीर हो उठता है।

विज्ञान ही ज्ञान की अन्तिम कसौटी है, कम से कम सार्वजनिक ज्ञान की तो है ही, तथापि वह कितना अपूर्ण

और अनिश्चित है ! हम अन्तिम और पूर्ण रूप से जान लेना चाहते हैं, पर हम वैसा कर नहीं पाते । हम व्यर्थ ही विद्रोह करते हैं । यह हमारे लिए एक लाभप्रद सबक हो सकता है । भले ही हमें जीवन के अर्थ को खोज निकालने के लिए विज्ञान के परे जाना पड़े, पर हम ऐसी किसी भी प्रणाली के द्वारा भ्रमित न होंगे जो विज्ञान से भी श्रेष्ठ ताथ्यिक ज्ञान देने का दावा करती है ।

पर हमें यहीं नहीं रुकना है । हमारी खोज को तो और भी आगे बढ़ना है, क्योंकि विज्ञान हमें आंशिक सहायता ही प्रदान कर सकता है । वह हमें 'अर्थ' या 'उद्देश्य' के सन्बन्ध में कुछ नहीं बता सकता । विज्ञान हमारे सामने विवरण मात्र प्रस्तुत करता है, एक नक्शा रखता है; वह तथ्यों का मूल्यांकन करता है और आपसी सम्बन्धों को ढूँढ़ निकालता है । अधिक से अधिक वह हमें इतना ही सुझाव दे सकता है कि विश्व की प्रक्रियाओं के पीछे मानवी इच्छाओं और भावनाओं की पृष्ठभूमि पर कोई अर्थ ढूँढ़ना व्यर्थ है । उसके ऊपर हम नहीं जा सकते ।

तथापि, विज्ञान जो चित्र हमारे सामने रखता है वह हमें बेचैन कर देता है । अरबों वर्ष पहले सृष्टि का आरम्भ हुआ और कल्पनातीत विराट् स्तर पर विश्व का विकास होने लगा । विविध प्रकार के जीव इस विकास-क्रम में ऊपर आये और चले गये । तात्पर्य यह हुआ कि विकास के सभी रास्ते अन्त में मृत्यु और विनाश की

ओर ले जाते हैं। एक दिन यह समूचा विश्व भी विलीन हो जायगा और जीवन की आशाओं एवं योजनाओं का उपहास करती हुई एकमात्र शाश्वत मृत्यु ही बची रहेगी। विचार उठता है कि ऐसी शुष्क अर्थहीन प्रक्रिया सम्भव कैसे होती है? क्या मानव-मस्तिष्क के समझने योग्य उसका कोई अर्थ या उद्देश्य है? क्या हम अर्थ और उद्देश्य की चर्चा भी कर सकते हैं? इस दृश्य में व्यक्ति का कौनसा स्थान है, और उसका जीवन दर्शन भी किस प्रकार का रहेगा? ये प्रश्न ऐसे हैं, जिनके उत्तर नहीं दिये जा सकते। तथापि, उन प्रश्नों को पूछना और उनके उत्तर की अपेक्षा करना भी टाला नहीं जा सकता।

विज्ञान ज्ञान की एक प्रणाली है जो जीवन के विभिन्न पहलुओं में से एक है। वह मानसिक शान्ति नहीं प्रदान कर सकता, जीवन की कोई प्रणाली नहीं दे सकता। हाँ जो व्यक्ति अहर्निश प्रकृति के रहस्यों के उद्घाटन में लगा हुआ है, वह एक अपवाद हो सकता है। अन्य लोग भले ही विज्ञान द्वारा प्रस्तुत संसार के चित्र को देखकर मोहित हो जायँ पर वे अनुभव करेंगे कि वह उनकी सामान्य समस्याओं को भी हल नहीं कर पाता। फिर, जब मनुष्य देखता है कि उसकी मृत्यु सुनिश्चित है, तो वैज्ञानिक समस्याओं की मोहकता भी कुछ अंश तक कम हो जाती है। यदि जिज्ञासु जीवन का एक व्यावहारिक और सन्तोषप्रद दर्शन चाहता है, तो उसे और भी आगे बढ़ना चाहिए।

३.

मनुष्य को मुड़ने के लिए कई दिशाएँ हैं, कई आन्दोलन और विचार प्रणालियाँ हैं। एक सम्भव दिशा है उग्र आदर्शवाद (Radical idealism) की। भले ही लोग इससे कम परिचित हैं पर यह कुछ महत्त्व रखता है। इसका अर्थ है-मानवमात्र की सेवा और समाजका आमूल सुधार। यह उदारवादी ईसाइयों की समाजसेवा-भावना से निकट रूप से सम्बद्ध है। भले ही उदारवादी ईसाई भावनाओं से वह पृथक् नहीं है, तथापि वह उन भावनाओं से बहुत आगे बढ़ जाता है, इसीलिए उसकी पृथक् आलोचना समीचीन है, उसके अनुसार मानवता की सेवा का प्रमुख तात्पर्य पीड़ितों की अवस्था में सुधार मात्र नहीं है—जैसे, रोगी को दवा देना,दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायता करना, गन्दी बस्तियों को साफ करना, इत्यादि। ये सब आवश्यक हो सकते हैं, पर उग्र आदर्शवादी समाज को ही ऐसे नये ढाँचे में ढाल देना चाहता है, जिससे उक्त समस्याओं का मूल कारण ही नष्ट हो जाय। यह सत्य है कि यह बड़ी आशावादी दृष्टि है और हो सकता है कि यह सर्वथा असम्भव कार्य हो। फिर, यह भी डर है कि समस्या का केवल ऊपरी विश्लेषण मात्र हुआ हो।

जो हो, हम इस प्रकार के आदर्शवाद की एक किस्म पर विचार करें। भारत का इस पर अपेक्षाकृत बड़ा प्रभाव पड़ा है, तथा गाँधी के अहिंसावाद और क्रिश्चियन शांतिवाद ने मिलकर उसके विचारों और क्रियाओं का आधार

निर्मित किया है। संसार की सारी समस्याओं की जड़ हिंसा है, वह एक ऐसा जहर है जो व्यक्तियों और राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों को विषमय कर दे रहा है। कोई समस्या इतनी कठिन या जटिल नहीं है कि उसे युक्तिमूलक उपायों से न सुलझाया जा सके। पर हिंसा इसमें आड़े आती है। व्यक्तिगत स्वार्थ और महत्त्वाकांक्षा से ही हिंसा का जन्म होता है।

क्रिया विविध रूप धारण करती है। जहाँ तनाव और विरोध विद्यमान है, वहाँ समझौते के प्रयत्न होते हैं। कभी-कभी, आवश्यकता पड़ने पर और उचित दिखने पर, किसी विशिष्ट अन्यायपूर्ण या हिंसात्मक अवस्था के विरोध में सीधी अहिंसात्मक कार्रवाई की जायगी। साथ ही कुछ शैक्षणिक कार्य भी ऐसे रहेंगे जिससे बहुलांश जन-मानसको अहिंसात्मक कार्रवाई की सार्थकता और शक्ति-मत्ता के सम्बन्ध में विश्वास कराया जायगा। वर्तमान समय में द्वितीय प्रणाली ही अधिक कार्यरत है, क्योंकि प्रथम प्रणाली का कार्यान्वयन विशेष परिस्थितियों की अपेक्षा रखता है।

गतिविधियों के दो बृहत्तम क्षेत्र हैं— युद्ध का प्रतिवाद और जातिगत भेदभाव का निवारण। जानबूझ कर सेना में भरती होने से आपत्ति या इनकार करना और विचार धारा एवं नीति को प्रभावित करने के प्रयत्न करना - ये दोनों ही युद्ध के प्रतिवाद के अन्तर्गत हैं। युद्ध की विशेष

तैयारियों का विरोध किया जाता है और निरस्त्रीकरण, अन्तरराष्ट्रिय सम्पर्क जैसे रचनात्मक विचारों का समर्थन। जनता तक अपनी बात पहुँचाने के विभिन्न तरीके हैं— प्रकाशन, भाषण, सड़कों पर की जाने वाली सभाएँ, पोस्टर लेकर घूमना, परचे और कभी-कभी अधिक नाटकीय स्वरूप के कार्यकलाप।

गोरी और काली जातियों के बीच सम्बन्ध स्थापित करने के लिए जो कार्य चल रहे हैं, उन पर गाँधीवाद का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। विशेष कर वर्तमान समय में मान्टोगोमेरी, अल्बामा में जो आन्दोलन प्रारम्भ हुआ है, उसपर गाँधीवाद की सुस्पष्ट छाप है। इसके भी पूर्व, अमेरिका के कतिपय बड़े-बड़े उत्तरी शहरों में गाँधीवाद की रूपरेखा के अनुसार एक संघ का विशेष रूप से गठन किया गया था। उसने कई घटनाओं में सीधी कार्रवाई का तरीका अपनाया और उसे सफलता भी मिली। इसके अतिरिक्त और भी कई तरीके हैं; कुछ का लक्ष्य जन-साधारण को शिक्षित करना, कुछ दूसरे अन्तर्जातीय सम्पर्कों को बढ़ाने के प्रयत्न में हैं, कुछ तीसरे नीग्रो एवं अन्य अल्पसंख्यकों को नौकरी की अधिक सुविधाएँ प्राप्त कराना चाहते हैं और कुछ अन्य का लक्ष्य है पक्षपात की विशिष्ट घटनाओं के विरोध में मोर्चा बाँधना।

उग्र आदर्शवादी के लिए कार्य करने के हेतु और भी बहुत से तरीके हैं। कई लोग किसी प्रकार के प्रजातांत्रिक समाजवाद में समाज के लिए एक नवीन आर्थिक आधार

देख पाते हैं। दूसरे लोग अधिक व्यक्तिवादी हैं। उनकी समाजवाद में आस्था नहीं है। वे मध्यम पन्थ के रूप में सहकारिताओंमें विशेष रुचि लेते हैं।

यह नहीं सोचना चाहिये कि सूची पूरी हो गयी, यह भी नहीं कि अमेरिका के इन क्षेत्रों में जो कार्य हो रहा है वह सर्वथा अपने ढंग का है। यह अवश्य है कि वह आदर्शवादी गति विधि के अत्यन्त उग्र पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है और उनकी विचार की दिशा का प्रतीक है। उनकी संख्या अल्प है, किन्तु वे ऐसे कार्यों में संलग्न हैं जो बहुत से जिज्ञासुओं को अच्छे लगेंगे।

जैसा ऊपर कहा गया है, ऐसे लोगों की संख्या अत्यल्प है। अतः प्रश्न उठ सकता है कि इतने थोड़े व्यक्तियों के कार्यों का वास्तविक सामाजिक मूल्य भला कितना होगा? तो उत्तर में कहा जा सकता है कि भले ही उनकी संख्या नगण्य है, पर उनका प्रभाव नगण्य नहीं है। एक बहुत बड़ी संख्या ऐसी है, जो इन आदर्शों के प्रति सहानुभूति रखती है, पर वे सबके सामने ऐसे अप्रिय कार्यों की पीठ ठोंककर अपनी प्रतिष्ठा, नौकरी और पद को खतरे में नहीं डालना चाहते। फिर, ये नगण्य लोग ऐसी दिशाओं में प्रयोग कर रहे हैं, जिनकी सार्थकता अणु और प्रक्षेपास्त्र युग की प्रगति के साथ-साथ निस्सन्दिग्ध रूप से बढ़ती जायेगी। अब यह स्पष्ट है कि यदि एक उच्च संगठित सभ्यता को बची रहना है, अथवा मानवता को ही बचाकर रखना है तो युद्ध की समस्या को सुल-

भाना ही पड़ेगा। अतः, विश्व की समस्याओं को अनिवार्य रूप से अहिंसात्मक ढंग से हल करना होगा। इसका तात्पर्य यह नहीं कि वर्तमान समय में शान्तिवादी के पास इसका उत्तर है। पर यह सत्य है कि दो शक्ति-गुटों के बीच सन्तुलन भी खतरे से खाली नहीं है। ऐसा सन्तुलन स्वभाव से ही अस्थायी है और यह एक ऐसी विषम स्थिति है जहाँ एक बार की असफलता का अर्थ है समूह विनाश। अतः जो अहिंसात्मक कार्रवाई के पक्ष में है वह अग्रगामी वीर है, और अन्ततोगत्वा हमें यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि वह मूलतः सत्य मार्ग पर है। प्रमुख कठिनाई इसमें यह है कि कौन ऐसी सुदूरव्यापी और अपूर्व नीति का वरण करेगा।

जहाँ तक अन्वेषक का, जिज्ञासु का प्रश्न है, मुख्य कमजोरी है दृष्टिकोण और साधन का सीमित स्वभाव। यह सम्पूर्णतः आन्दोलन का दोष नहीं है। वह भले ही आज इस प्रकार के कार्यकलापों को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करे, तथापि वह जीवन का एक सम्पूर्ण दर्शन देने का दावा नहीं करता। वह तो जिज्ञासु है जो उसमें आवश्यकता से अधिक कुछ खोजने का प्रयत्न करता है, जो ऐसे कार्यकलापों में मग्न होकर अपनी आध्यात्मिक समस्याओं को हल करना चाहता है। पर इतना ही पर्याप्त नहीं है। एक स्पष्ट उद्देश्य या दिशा की आवश्यकता है, एक ऐसे सन्दर्भ का प्रयोजन है जिसमें कार्यकलापों का कुछ अर्थ हो सके। यदि समूचे कार्यक्रम को सफलतापूर्वक

सम्पन्न भी किया जा सके, तो भी वह मानवी समस्या का समाधान न कर सकेगा। ऐसे जिज्ञासु तब भी रहेंगे जो आध्यात्मिक अनाहार से पीड़ित रहेंगे।

अतः, वह जिज्ञासु की समूची आवश्यकताओं को पूर्ति नहीं कर सकता। जो लोग दिन और रात उस प्रकार के कार्यकलापों में संलग्न हैं, उन लोगों के लिए भले ही वह पर्याप्त हो सकता है; क्योंकि कम से कम उनकी उन्नति का वह एक प्रमुख साधन है; परन्तु दूसरों के जीवन की मूलभूत समस्याओं का वह कोई समाधान प्रस्तुत नहीं कर पाता।

किन्तु ऐसे मार्ग को अस्वीकृत भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि परम्परागत धर्म की अपेक्षा वह आदर्श और निष्ठा में कहीं अधिक श्रेष्ठ है। कई लोग यथार्थ में उन नैतिक और धार्मिक उपदेशों को जीवन में उतारने का प्रयत्न करते हैं, जिनकी अन्यत्र चर्चा मात्र होती है। पर तो भी, कुछ और अधिक आवश्यक है ऐसे आधार की आवश्यकता है, जो अन्य सब कार्यकलापों में अर्थ भर दे।

४.

आज हो या कल, जिज्ञासु सहायता के लिए भारत की ही ओर अधिक मुड़ेगा। जो सीधे वेदान्त की ओर आ सकते हैं, वे भाग्यशाली हैं। दूसरों को टेढ़ी-मेढ़ी गलियों से होकर जाना पड़ेगा। जैसा कि कहा जा चुका

है, उन पर प्रथम ठोस प्रभाव गाँधीजी और उनके अहिंसा के सिद्धान्तों का पड़ेगा। हो सकता है कि वे उन सिद्धान्तों को ठीक तरह न समझ सकें या व्यवहार में न ला सकें, पर तो भी वे महत्वपूर्ण हैं ही।

ज्यों-ज्यों अनुभव बढ़ता है, समझने की शक्ति बढ़ती है, त्यों-त्यों भारतीय संस्कृति के अन्य पहलू अपना अधिकाधिक आकर्षण डालते जाते हैं। भारत की कला और नृत्य विद्या अधिकाधिक ख्याति अर्जन कर रही है। भारतीय दर्शन भी अपनी बौद्धिक मोहकता के कारण अधिक प्रशंसित होता जा रहा है। भारत में विद्यमान गरीबी, गन्दगी, अज्ञानता और अन्य सब दोषों के बावजूद भी उसमें एक ऐसा अनाम आकर्षण है, एक ऐसा खिंचाव है जो अमिट है।

किन्तु ये सब बातें गौण हैं। कुछ तथाकथित भारत-बन्धु अवश्य हैं, पर वे अपने आपको धोखा दे रहे हैं। वे जिस प्रकार का जीवन-दर्शन प्रस्तुत करते हैं, वह जीवन की प्रणाली नहीं हो सकती।

५.

अन्त में हम वेदान्त में ही आधारशिला को प्राप्त करते हैं। अन्य आन्दोलनों का भी अपना महत्त्व है और वे बहुतों को निःस्वार्थता की ओर ले जाते हैं। फिर भी, उनकी अपनी सीमाएँ हैं; वे आध्यात्मिक जीवन का ऐसा आधार नहीं दे पाते, जो समस्त विश्लेषणों

और कठिनाइयों में भी अडिग रहे। कोई भी धर्म, यदि उसे निष्ठा के साथ अपनाया जाय तो ऐसा कार्य कर सकता है और ऐसा दृष्टिकोण प्रस्तुत कर सकता है जो जीवन और उसकी अन्तहीन गतिविधियों को अर्थ प्रदान कर सके। फिर भी जो न्यूनाधिक रूप से उपर्युक्त विकासक्रम में से गुजर रहा है, उसके लिए वेदान्त कई अपूर्व पक्ष प्रस्तुत करता है। विशद आलोचना सम्भव नहीं है। अतः वेदान्त के ऐसे तीन पक्षों पर यहाँ विचार किया जायगा, जो ऐसे व्यक्ति पर अपना बड़ा प्रभाव डालते हैं।

पहला है—वेदान्त द्वारा प्रस्तुत स्वातंत्र्य और उदारता। यह दो प्रकार से प्रकट होता है, एक तो विभिन्न धर्मों के स्वीकरण में और दूसरा, साधक को दिये जाने वाले व्यक्तिगत स्वातंत्र्य में, जिससे वह धार्मिक और दार्शनिक जीवन के महान् तत्त्वों पर निर्बाध मनन कर सके। इस प्रकार, वेदान्त हमारे सम्मुख एक विशेष विश्व-दर्शन प्रस्तुत करता है, धार्मिक जीवन के लिए एक पृष्ठभूमि या सन्दर्भ प्रदान करता है। उसका वैशिष्ठ्य यह है कि वह कट्टर नहीं है, वह किसी विशिष्ट बौद्धिक प्रणाली पर कभी पक्षपातपूर्ण बल नहीं देता। साधक अपनी अनुभूति के आधार पर किसीभी विषय पर पूरी तरह सोचने में स्वतंत्र है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वेदान्त का लक्ष्य और उसकी गति सत्य की अपरोक्षानुभूति कराने की ओर है। सत्य के भावों का विकास करना या उनमें

विश्वास कराना वेदान्त का उद्देश्य नहीं है, भले ही ये भाव कितने भी महत्त्वपूर्ण क्यों न हों। वह अध्यात्मिक जीवन के व्यावहारिक पक्ष को ही अग्रगण्य स्थान देता है।

इसका युक्तिसंगत परिणाम है उदारता, जो वेदान्त अन्य धर्मों के प्रति बरतता है। महत्त्वपूर्ण बात है—ईश्वर साक्षात्कार या सत्यानुभूति की ओर प्रगति। सभी धर्म एक ऐसा मार्ग प्रस्तुत करते हैं, जो उस दैवी केन्द्र की ओर ले जाता है। विचार प्रणालियों के रूप में उनमें अत्यन्त भिन्नता है और हो सकता है, कई बातों में वे एक दूसरे का सीधा विरोध करते हों। पर जब हम धर्म को परम सत्य की प्राप्ति का एक मार्ग मान लेते हैं, उसे सत्यों का आगर नहीं समझते, तो उपर्युक्त विरोध महत्त्व-हीन हो जाता है। वेदान्त दृष्टिकोण को एवं विध परि-वर्तित करने में सफल हुआ है और यह निश्चय है कि वह सत्य के अमेरिकन साधकों को अपनी ओर अधिकाधिक आकर्षित करेगा।

दूसरा पक्ष पहले के साथ निकट रूप से सम्बद्ध है। वह है—वेदान्त का बौद्धिक बल। वेदान्त साहित्य सुविस्तृत है और भारतीय इतिहास के प्राचीनतम काल की एक झाँकी है। उसमें अनेक दर्शनों का समावेश है और ये दर्शन कई ऋषियों की अनुभूतियों से समुत्थित हुए हैं। उसमें मानव-मन में उठनेवाले कुछ सबसे मूल-भूत प्रश्नों पर विचार हुए हैं।

वेदान्त इन प्रश्नों पर सर्वदा युक्ति की सहायता से विचार करता है। वह एकांगी या कट्टर दृष्टिकोण नहीं अपनाता, वह केवल विश्वास कर लेने के लिए भी नहीं कहता ! अतः वेदान्त विज्ञान के साथ सहज ही समरस हो सकता है, क्योंकि वह स्वभाव से युक्तिमूलक है और भौतिक जगत् के ज्ञान के लिए ऐसी प्रणालियाँ लोगों के सामने नहीं रखता, जो वैज्ञानिकता से परे हों।

वैदान्तिक विचारणा और पुराण-कथाओं का एक विशिष्ट तत्त्व है। वैज्ञानिक अनुसन्धानों ने ईसाई धर्म को जो धक्के पहुँचाये हैं, वे धक्के इसी तत्त्व के कारण वेदान्त पर नहीं लग सके हैं। वेदान्त सदैव इस तथ्य पर बल देता रहा है कि आध्यात्मिक जीवन की नींव हृदय में होनेवाली अनुभूतियों पर बनी है, न कि इतिहास के किसी विशेष ढाँचे या घटना पर। इस प्रकार हम देखते हैं कि संसार के प्रति बदलते दृष्टिकोण, उसकी प्रगति और उसका इतिहास वेदान्त के सन्देश पर अपना प्रभाव नहीं डाल सकता।

विज्ञान के समान वेदान्त भी तर्क और प्रयोग इन दोनों प्रणालियों के मेल पर आधारित है, केवल एक ही प्रणाली पर नहीं। पर वेदान्त और विज्ञान को एक दूसरे का पूरक नहीं समझकर दोनों को एक दूसरे के समानान्तर समझना चाहिए। तात्पर्य यह है कि वे सत्य को बाँटते नहीं, प्रत्युत वे उसी एक तत्त्व पर अलग-अलग दृष्टिकोण से विचार करते हैं। एक विचार करता है अनेकत्व की

पृष्ठ भूमि पर, तो दूसरा एकत्व की।

वेदान्त का बौद्धिक बल तीन रूपों में प्रकट होता है। एक यह है कि उसकी सामान्य प्रणाली सदैव युक्तिमूलक और खोज पूर्ण रही है। दूसरा यह है कि उसकी विशिष्टताएँ वैज्ञानिक पद्धति के अनुरुप हैं और अपनाने लायक पर्याप्त रूप से प्रयोगात्मक हैं। तीसरा यह है कि साधक को अपने तर्क और अनुभवों के आधार पर मानो अपना निजी दर्शन गढ़ने की पूर्ण बौद्धिक स्वतन्त्रता है।

इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि वेदान्त केवल शुष्क ज्ञान है। उसमें कई दर्शनों का अन्तर्भाव है, पर वह स्वयं कोई दर्शन नहीं है।

वेदान्त का तीसरा और सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष है उसका आनुभूतिक बल। उसका उद्देश्य है ईश्वर या चरम सत्य का साक्षात्कार। उसकी विधियों और उसके दर्शनों का एक मात्र तात्पय है—साधक को उस प्रकार की अनुभूति के लिए सक्षम बनाना। इस व्यवहारिक और भक्तिपूर्ण हृदय के बिना वेदान्त दर्शन कोरी बौद्धिकता मात्र रह जाता और उसकी उदारता एक अस्पष्ट शुभकामना मात्र रह जाती।

अभी बहुत बड़े पैमाने पर एक आध्यात्मिक आन्दोलन उठा है। यह उसकी प्रारम्भिक अवस्था है। ऐसे आध्यात्मिक आन्दोलन का, जिसकी शक्ति की अभिव्यक्ति अभी-अभी प्रारम्भ हुई है, अंग बन जाना मानो शक्ति के महान् स्रोत को प्राप्त कर लेना है; क्योंकि उसमें अभी

भी जीवन, भक्ति, आनन्द और प्रेम का प्रवाह प्रखर रूप से बह रहा है। आज वेदान्त में हमें इसकी अनुभूति होती है।

कुछ ही समय पूर्व की बात है, उच्चतम आध्यात्मिकता सम्पन्न ऐसे पुरुष विद्यमान थे, जिन्होंने सर्वोच्च आध्यात्मिक अनुभूतियाँ की थीं। आध्यात्मिकता केवल सुदूर अतीत की घटनाओं और प्राचीन काल के पुरुषों में ही मर्यादित नहीं है। इन आध्यात्मिक दिग्गजों के संस्मरणों के सम्बन्ध में क्या कहें, जब आज भी हमारे बीच इनमें से कुछ के शिष्यगण विद्यमान हैं। ये शिष्यगण स्वयं आध्यात्मिक क्षेत्र में पहुँचे हुए पुरुष हैं और अपने गुरुजनों के सम्बन्ध में हमें बता सकते हैं।

वेदान्त का सन्देश है—सभी ईश्वर की अनुभूति करें और ईश्वर में जीवन के सच्चे अर्थ को प्राप्त करें। वेदान्त यही शिक्षा देता है, उपाय बता देता है और आवश्यक सूचनाएँ प्रदान करता है, जिससे निष्ठावान् साधक ईश्वर-साक्षात्कार के पथ पर अग्रसर हो सकें।

यही गन्तव्य है और यह है मार्ग, यही वह आधार है जो किसी कार्यकलाप को अर्थपूर्ण बनाता है और जिसके न रहने से जीवन दुखद और असफल बन जाता है। सर्वप्रथम हमें ज्ञान और भक्तिकी प्राप्ति कर लेनी चाहिए। तदनन्तर, यदि हम इच्छा करें तो अन्य बातें भी अपने-अपने स्थान पर आ जायेंगी। व्यापार कहें, विज्ञान कहें, कला या आमूल समाज सुधार कहें—जो जिसका कर्तव्य

या आदर्श होगा, उसे वह मिल जायगा। इस आधार के बिना, कार्यकलाप अन्ततोगत्वा निराशा और शुष्कता की ओर अनिवार्य रूप से ले जायेंगे।

इस आधार को स्वीकार कर लेने पर, ईसा और ईसाई धर्म के तात्पर्य और महत्त्व का एक नया मूल्यांकन हमारे सामने आता है। पुरानी कठिनाइयाँ विलीन हो जाती हैं। जब हम प्रत्यक्षानुभूति को अपना लक्ष्य मान लेते हैं, तो धर्म के प्रश्न अपना महत्त्व खो बैठते हैं। और तब यह सम्भव है कि ईसा मसीह के प्रति प्रेम और भक्ति में हम डूब जाँय।

एक अमेरिकन के लिए वेदान्त का उपर्युक्त अर्थ हो सकता है। यात्रा लम्बी हो सकती है और मार्ग अनदेखे दृश्यों में से गुजर सकता है। पर सच्चे साधक को, आज हो या कल, सहायता अवश्य प्राप्त होगी, कोई गुरु और उसका उपदेश प्राप्त होगा, जो उसे ईश्वर प्राप्ति के पथ पर दिशा और गति प्रदान करेगा।

—'प्रबुद्ध भारत' से साभार।

—०※०—

सफलता का रहस्य

प्राध्यापक देवेन्द्रकुमार वर्मा, एम. एससी.

जीवन के किसी भी क्षेत्र में सफलता-प्राप्ति के लिए सबसे आवश्यक वस्तु है, उसके लिए उपयुक्त उपायों का निर्धारण। जब हम किसी आदर्श को अपनाते हैं, उसे अपने जीवन का ध्रुवतारा बना लेते हैं, तब यह आवश्यक हो जाता है कि उसकी प्राप्ति के साधनों को ढूँढ निकालें। जब तक साधन अनुकूल और सही न होंगे, तब तक साध्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। एक उच्च आदर्श की अभिव्यक्ति उसके ही अनुरूप साधन के निर्धारण तथा उसकी परिपूर्णता में ही हो सकती है। साधन के चयन के पश्चात् जो दूसरी कठिनाई आ खड़ी होती है, वह है उसे कार्य रूप में परिणत करने की। होता यह है कि हम साधन को कारगर न करते हुए साध्य की ही चिन्तना में लग जाते हैं। लक्ष्य का मोहक आकर्षण हमें कार्य से विरत कर देता है। साध्य की प्राप्ति की मधुर कल्पना में हम इतने खो जाते हैं कि कर्म जो लक्ष्य-प्राप्ति का एकमात्र संबल है, एक किनारे धरा रह जाता है। जीवन में हमारी असफलता का यह एक प्रमुख कारण है। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि जब हमने एक बार साधन का चयन कर लिया, तब फल की चिन्ता छोड़कर उस साधन की परि-

पूर्णता के लिए अपना सर्वस्व लगा देना चाहिए। साधन ही एकमात्र विवेच्य विषय होना चाहिए। यदि साधन उचित और अनुकूल है, तो साध्य का प्राप्ति होगी ही। यदि हम अपनी असफलताओं पर विचार करें तो ज्ञात होगा कि उसका एकमात्र कारण कर्म की अवहेलना ही रही है। और यही कारण है कि आदर्श कल्पना का विषय मात्र रह जाता है।

जब हमने अपने लक्ष्य की प्राप्ति के साधनों को ढूँढ निकाला तब उस पर पूरे मनोयोग से लग जाना चाहिए। किन्तु ध्यान रहे, ये कार्य हमें बाँध न पायें। होना यह है कि हम पूरी लगन से काम करते हैं, पर दुर्भाग्य से अगर उसमें असफलता हाथ लगी तो हमारी सारी आशाएँ चूर-चूर हो जाती हैं, जीवन नैराश्यमय हो जाता है। यह जानते हुए भी कि कर्म के प्रति आसक्ति से हमारा अनिष्ट होने वाला है हम अपने आपको उससे नहीं बचा पाते। मधुमक्खी शहद पीने आती है, आते ही उसके पैर मधु-पात्र में फँस जाते हैं। अब वह बाहर कैसे निकले? उसी प्रकार हम आनन्द-रस-पान करना चाहते हैं, किन्तु पाते हैं कि हमारे हाथ-पैर कर्म के बन्धनों ने जकड़ डाले हैं। हम प्रकृति का उपभोग करना चाहते हैं, किन्तु प्रकृति ही उल्टा हमारा उपभोग करती है। हम जीवन में सुख की तलाश करते हैं, किन्तु यही खोज हमें खाय डालती हैं।

हमारे समस्त दुखों की जड़ है-कर्म के प्रति आसक्ति। इसी लिए गीता बारम्बार आगाह करती है—काम करो,

अनवरत कार्यशील रहो किन्तु उसमें आसक्त मत होओ। किसी भी काय को पूर्ण करने के लिए अपना सर्वस्व लगा दो, किन्तु समय आने पर उसे त्याग देने की क्षमता भी रखो। कोई काम चाहे कितना भी सुखदायी क्यों न हो, चाहे हृदय उससे विलग होने की कल्पना मात्र से हाहाकार क्यों न कर उठे, फिर भी इच्छामात्र से अपने को उससे मुक्त कर लेने की शक्ति रखो। सफलता का यही वास्तविक रहस्य है। वही मनुष्य वास्तविक सुख और शान्ति का अधिकारी होता है जो कर्म करते हुए भी उसके बन्धन में नहीं पड़ता। यद्यपि यह कार्य सहज नहीं है, तथापि जीवन में इसके बिना सफलता नहीं मिल सकती।

एक ओर तो कर्मों के प्रति यह मोह हमें आनन्द पहुँचाता है, दूसरी ओर यही हमारे बन्धन का कारण हो जाता है। हम अपने मित्रों और सुहृदजनों के प्रेम पाश में बँधे रहते हैं अपने बौद्धिक और आध्यात्मिक कार्यों के प्रति आसक्त रहते हैं और यही आसक्ति हमारी आपदाओं का कारण बन जाती है। सफलता उसी के पैर चूमती है जो प्रकृति की उत्कृष्ट वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए अपने आपको भुला दे, पर साथ ही इच्छा मात्र से आकर्षण के इन बन्धनों को छिन्न-भिन्न भी कर सके। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो किसी के प्रति आसक्त नहीं होते। ऐसे लोग जीवनके अनेक दुखों से बच जाते हैं किन्तुजीवन के माधुर्य और आनन्द से भी वे वंचित रह जाते हैं। ऐसा जीवन भी अपेक्षित नहीं। यह तो मृत्यु की अवस्था है।

वह मनुष मृतवत् है जिसने कभी प्रेम की शक्ति का अनुभव नहीं किया जो जीवन के कष्टों से दूर रहा। सुखऔर दुख दोनों में समता रखनेवाला ही जीवन में सफलता प्राप्त कर सकता है।

हमारे दुखों का दूसरा प्रमुख कारण है, फल की आकांक्षा। मनोवांछित फल की प्राप्ति न होने से जीवन दुखमय हो जाता है। हमारा प्रत्येक कर्म फल की आशा लिए हुए होता है। हर काम हम व्यापारिक बुद्धि से करते हैं। अगर हम कुछ देते हैं, तो उसके पीछे पाने की लालसा रहती है। अगर प्रेम करते हैं, तो प्रेम की अपेक्षा करते हैं। यदि प्रेम न मिला तो जीवन नैराश्यमय हो जाता है। यह तो व्यापारिक लेन देन हुआ। व्यापार में अच्छे भी दिन होते हैं और बुरे दिन भी। कभी तेजी तो कभी मंदी इसी प्रकार जीवन के व्यापार में भी कभी सफलता मिलेगी और कभी असफलता। हम जैसा चेहरा बनाएँगे, शीशे में वैसा ही प्रतिबिम्बित होगा। उसी प्रकार, जहाँ हम फल की आशा से कर्म करते हैं, वहाँ हमें उससे प्राप्त सुख और दुख दोनों के लिए तत्पर रहना चाहिए। हमें अपने प्रेम के बदले विष के घूँट मिलते हैं, इसलिए नहीं कि हमने प्रेम किया, वरन् इसलिए कि हमने प्रेम के बदले प्रेम चाहा, उपकार के बदले उपकार की अपेक्षा की।

निःस्वार्थ भावना से कर्म करना ही सफलता की सीढ़ी है। जितना ही हम दूसरों के लिए त्याग करेंगे। उतनी ही हमारे सुख-संतोष की वृद्धि होगी। स्वामी विवेकानन्द

कहते हैं कि जितना दे सको, मुक्त हस्तों से दूसरों को दो। किसी प्रकार के फल की आकांक्षा मत रखो। तुम्हारा वह दान तुम्हारे पास समय पाकर सहस्रों गुना अधिक आएगा, किन्तु उस ओर अभी ध्यान मत दो। याद रखो, यह जीवन देने के ही लिए है। प्रकृति हमें विवश करती है कि हम दें। अतः क्यों न स्वेच्छा से दें ? एक न एक दिन हमें सब कुछ देना ही होगा। हम दोनों हाथों से सुख सामग्री बटोरना चाहते हैं किन्तु प्रकृति अपने निर्मम हाथों से हमारा मुँह दबाकर हमारे हाथ खुलवा लेती है। हमारी सुख की आकांक्षाएँ बिखर जाती हैं। अपनी चीजें लुटती देख हम चीख उठते हैं—"नहीं, हम नहीं, देंगे!" पर त्योंही प्रकृति का वज्राघात होता है और हम किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो जाते हैं। जितना ही हम इसके विरुद्ध संघर्ष करते हैं, जीवन उतना ही दुखमय हो जाता है। सूय देने के ही लिए सागरकी विपुल जलराशि खींचता है। सरिताएँ अनवरत रूप से अपने आपको सागर में विलीन करती रहती हैं किन्तु कभी रिक्त नहीं होतीं। जीवन का माधुर्य त्याग में है, न कि संचय में। इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए हमें प्रकृति से अनवरत संघर्ष करना पड़ेगा। प्रकृति सर्वदा हमें प्रतिरोध के लिए उकसाती है; हमें आघात के बदले आघात, धूर्तता के बदले धूर्तता, अत्याचार के बदले भरसक अत्याचार करने के लिए प्रेरित करती है। किन्तु महानता प्रकृति के अनुकूल चलने में नहीं, उससे संघर्ष करने में है। बड़प्पन प्रत्याघात में नहीं,

वरन् अपने आपको संयमित रखते हुए आघातों को सहन करने में है।

ये ही सफलता के चिर साधन हैं जो हमारे जीवन में सुख और शान्ति का मार्ग प्रशस्त कर सकते हैं। यह सहज नहीं है। इसके लिए निरन्तर अध्यवसाय की आवश्यकता है। बिना उसके सधे लक्ष्य की प्राप्ति कठिन ही नहीं वरन् असंभव है। हम अनेक बार कार्यारूढ़ होते हैं किन्तु दृढ़ता के अभाव में हमें असफलता हाथ लगती है। हर बार हम प्रण करते हैं कि अब अपनी कमजोरियों के वशीभूत नहीं होंगे। किन्तु वह क्षणिक ही होता है। हम पुनः अपने आपको नैराश्य की अतल गहराइयों में पड़ा पाते हैं। हमारे विफल प्रेम की, असफलताओं की बीती कहानी पुनः हमें व्यथित कर देती है। मानों पक्षी पुनः जाल में अपने को फँसा पाता है, फड़फड़ाता है किन्तु निकल नहीं पाता। प्रकृति की निरन्तर ठोकरें हमें निराशावादी बना देती हैं। इसीलिए देखा जाता है कि जो व्यक्ति अपने जीवन के नव वसंतों में आदर्शवादी और उत्साही होते हैं, वे प्रकृति के घात-प्रत्याघातों के परिणाम स्वरूप बाद में मिट्टी के लोंदे मात्र रह जाते हैं। न उनका कोई आदर्श रह जाता है, न जीवन में कोई आकर्षण। उनका जीवन छिद्रान्वेषी तथा कपटपूर्ण हो जाता है।

अतएव अपनी प्रत्येक असफलता के लिए हमही उत्तरदायी हैं। जो कष्ट-कंटक हमें मिलते हैं, वे हमने ही बोए हैं। इस तथ्य पर यदि हम विवेकपूर्वक मनन करें, तो

आधी कठिनाइयाँ दूर हो जायेंगी। हर मानसिक कुंठा जो हमें व्यथित करती है, अपना प्रभाव दिखलाने के बहुत पूर्व ही हमारे सूक्ष्म मन में अंकुरित हो चुकी होती है। उस पर हम ध्यान नहीं देते हैं और इसीलिए वह समय पाकर बड़े मानसिक व्याघात के रूप में प्रगट होती है। यदि हमने अपने मन में होनेवाली हर सूक्ष्म प्रक्रिया पर ध्यान रखा होता और आरम्भ में ही उसे नष्ट कर दिया होता, तो बाद में उसका ऐसा दुखद परिणाम न होता। अतएव हमें सदैव अपने विवेक को जागरूक बनाए रखना चाहिए। भगवान् श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं—

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधात् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशः बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥

अर्थात् विषयों के ध्यान से उनके प्रति आसक्ति उत्पन्न होती है, आसक्ति से उनको पाने की लालसा बढ़ती है, लालसा में विघ्न उपस्थित होने से क्रोध उपजता है। क्रोध से मूढ़ता आती है। मूढ़ता से विवेक नष्ट हो जाता है। विवेक के नाश से मनुष्य पशु बन जाता है और सर्वनाश को प्राप्त होता है।

अतः हमें प्रारम्भ से ही सावधान होना चाहिए। हम अपनी ही भूलों के कारण सफलता से वंचित रह जाते हैं और दूसरों को दोष देने लगते हैं। हमें चाहिए कि हम

दूसरों पर दोषारोपण करने की आदत छोड़ दें और अपनी भूल स्वीकार करें। विवेकानन्द कहते हैं कि ऐसी कोई भी विपदा नहीं जिसके लिए तुमने रास्ता न बनाया हो। प्रत्येक असफलता के पीछे आधा तुम्हारा योग है और आधा बाह्य संसार का। तुम्हारा योग तुम्हारे हाथों में है। अगर तुम अपना योग न दो तो इन कठिनाइयों का तुम पर कोई असर न होगा। वायुमंडल में रोग के अगणित कीटाणु विचर रहे हैं। वे हम पर तब तक हावी नहीं हो सकते जब तक हमारा शरीर उन्हें प्रवेश न करने दे। रुग्ण शरीर पर ही इन कीटाणुओं का असर होता है। इसी प्रकार, दुख के चाहे सहस्र कीटाणु हमारे चहुँ-ओर हों, उनका हम पर कोई प्रभाव नहीं होगा अगर हम अपने को उनसे संलग्न न करें।

अगर हम एवंविध आत्मविश्लेषण करें, तो निश्चय ही निराशा के घने अंधकार में आशा की किरण फूट निकलेगी और हम यह समझने लगें कि भलेही मेरा बाह्य जगत् पर कोई अधिकार नहीं है, पर जो मेरे अन्दर है, मेरे सर्वाधिक निकट स्वयं का जो संसार है, उस पर तो मेरा अधिकार है। अतः क्यों न अपने आपको बाह्य जगत् के घात-प्रतिघातों से मुक्त रखूँ। अगर हम अपने आप पर पूर्ण अधिकार स्थापित कर लें, तो संसार की कोई भी शक्ति हमारा पथावरोध नहीं कर सकेगी। और सफलता का ताज अन्ततोगत्वा हमारे सिर पर रहेगा।

स्वामी विवेकानन्द और समाज-सुधार

(गतांक से आगे)

मूल लेखिका: प्रा० शकुन्तला भुस्कुटे, एम. ए.

अनुवादक: सु.रा. गोलवलकर, एम. ए.

स्वामी विवेकानन्द के समय के समाजसुधारकों और राजनीतिक नेताओं का ध्यान हिन्दू समाज की तत्कालीन जाति व्यवस्था की ओर आकृष्ट हो चुका था। समाज के प्रमुख नेताओं की मान्यता थी कि जब तक जाति-भेद का उच्चाटन नहीं हो जाता तब तक भारत में राष्ट्रीय एकता की स्थापना असम्भव है। स्वामीजी ने विविध अवसरों पर जाति-व्यवस्था के सम्बन्ध में अपने विचारों को व्यक्त किया है। प्रस्तुत समस्या के प्रति स्वामीजी का दृष्टिकोण तत्कालीन समाज-सुधारकों से पर्याप्त भिन्न है।

हिन्दू समाज में जाति-व्यवस्था का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। वास्तव में, भारतीय समाज शास्त्रियों ने जिस चतुर्वर्ण-व्यवस्था का आकलन किया था, जाति-व्यवस्था का निगमन उसी से हुआ है। चतुर्वर्ण - व्यवस्था के सम्बन्ध में स्वामीजी लिखते हैं, "यदि जाति आर्यसभ्यता का 'बाना' है तो वर्णाश्रमधर्म उसका 'ताना' है। इसीलिए भारतीय संस्कृति नैसर्गिक द्वन्द्व तथा संघर्ष पर विजय प्राप्तकर सकी है।"

स्वामीजी आगे कहते हैं कि चतुर्वर्ण-व्यवस्था के निर्माण में हमारे पूर्वजों की तीव्र बुद्धिमत्ता स्पष्ट दीखती है। इस समाज-व्यवस्था का ध्येय समाज के सभी अंगों को पोषण एवं संरक्षण प्रदान करना है। हिन्दू-समाज के विकास में चतुर्वर्ण-समाज-व्यवस्था का बड़ा योगदान है। इसी व्यवस्था के माध्यम से समाज के प्रत्येक व्यक्ति को उसके गुणानुक्रम से समाज में योग्य स्थान प्राप्त करना सरलता से सम्भव हो सका है। ऐतिहासिक पट-परिवर्तनों से तथा समाजिक उत्थान-पतन से यद्यपि मूलभूत चतुर्वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप परिवर्तित हो गया है किन्तु इसी व्यवस्था के कारण हिन्दू-संस्कृति काल के प्रवाह में ग्रीक और रोमन संस्कृति के समान लुप्त नहीं हुई। सहस्त्रों वर्षों से हिन्दू-समाज विदेशियों के समाजिक और धार्मिक आघातों का लक्ष्य बनता रहा; फिर भी हिन्दू संस्कृति जीवित रही है।

यद्यपि हिन्दू-समाज का पुरातन इतिहास वैभवशाली है किन्तु विगत कतिपय शतकों से हिन्दू समाज की स्थिति संतोषप्रद नहीं कही जा सकती। राजनीतिक दासता ने सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों पर भी प्रभाव डाला था जिससे चतुवर्ण-व्यवस्था जाति-व्यवस्था के रूप में ढल गई। अनेक सम्प्रदायों तथा उनकी शाखा-प्रशाखाओं और विविध जीवन-व्यवसायों के कारण जाति-व्यवस्था अधिकाधिक दृढ़ और बद्धमूल होती गई। जातियों में पृथकता और अलगाव आने के साथ ही एक

दूसरे को हीन समझने की प्रवृत्ति भी बलवती होने लगी। अपने वंश को ही श्रेष्ठतर मानने के कारण अहंकार की उत्पत्ति हो गई थी। फलतः अनेक प्रकार की घृणापूर्ण भावनाओं के घर कर जाने से एक जाति और दूसरी जाति के बीच की दूरी बढ़ती ही गई। जातियों ने अपने जीवन का उद्देश्य भुला दिया। हिन्दू समाज के मूलाधार रूपी धर्मतत्त्व का अध्ययन समाप्त हो गया और धर्मतत्व का स्थान गतानुगतिक, तर्कशून्य और मिथ्यापूर्ण कु-संस्कारों ने ले लिया। इन सब कारणों से समाज का स्वाभाविक गतिशीलता नष्ट हो गई और उसमें कूपमंडूक की वृत्ति बढ़ती गई। इससे हिन्दूसमाज में निम्न समझी जानेवाली जातियों की स्थिति अत्यन्त शोचनीय हो गई।

अंग्रेजों के शासन के कारण भारतीय शिक्षित वर्ग पाश्चात्य समाज-रचना से परिचित हो गया था। पश्चिमी समाज और हिन्दू समाज की रचना में दो ध्रुवों का अंतर है। पाश्चात्य समाज-रचना में स्पर्धा का विशेष स्थान है। पाश्चात्य समाज व्यक्तिस्वातंत्र्य का हिमायती है। वहाँ कोई भी व्यक्ति धन, बुद्धिमत्ता, सत्ता और सौन्दर्य के आधार पर अपनी जन्मसिद्ध जाति का त्याग कर सकता है। किन्तु पिछले कुछ वर्षों में हिन्दू समाज में रूढ़ियाँ अत्यधिक प्रबल हो गई थीं इसलिए प्रतिभावान् व्यक्तियों का विकास-क्षेत्र सीमित हो गया। विगत शताब्दी के उत्त-रार्ध में समाज-सुधारकों ने हिन्दू-समाज की दुरवस्था पर अपने व्यंग्य - बाणों का संधान करना प्रारम्भ कर दिया

था। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि जाति-भेद के कारण समाज में अनेक दोष उत्पन्न हो गए हैं तथा जब तक इन दोषों को दूर नहीं किया जाता तब तक भारत की प्रगति नहीं हो सकती। भारतीय समाज की अस्तव्यस्त व्यवस्था को पुनर्गठित करने की तीव्र आवश्यकता की कल्पना स्वामीजी ने पूरी तरह से कर ली थी। परिव्राजक विवेकानन्द ने अपने प्रवासकाल में तथाकथित ऊँची और नीची जातियों के जीवन को अत्यन्त समीप से देखा था। वे जानते थे कि जन्मसिद्ध वर्ण व्यवस्था और जातियों का वर्तमान स्वरूप गतिशील राजकीय और सामाजिक स्थिति में टिक नहीं सकते, भले ही वे कितने ही पुराने क्यों न हों।

स्वामीजी ने अपने समकालीन समाज सुधारकों की भाँति हिन्दू-समाज की टीका टिप्पणी करने का कार्य नहीं किया। वे पाश्चात्य समाज-तत्त्वों के आधार पर हिन्दू-समाज की पुनर्रचना भी नहीं करना चाहते थे। उन्होंने इस बात की कभी कल्पना भी नहीं की कि हिन्दू समाज के मूलतत्त्व त्याज्य हैं। यद्यपि स्वामीजी ने प्राचीन चतुर्वर्ण-व्यवस्था तथा जाति-तत्त्व का समर्थन किया था किन्तु आधुनिक सामाजिक जीवन में व्याप्त विषमता का समर्थन कभी नहीं किया। स्वामीजी के मत से जाति भेद की समस्या इने-गिने शिक्षितों की सभ्य श्रेणी के लोगों की समस्या नहीं थी। विभिन्न जातियों द्वारा स्वतंत्र रूप से समाज-सुधार किये जाने पर भी इस प्रश्न का हल असम्भवप्राय था। कोई भी जाति समाज के अन्य वर्गों से पृथक् होकर

नहीं रह सकती। यदि सरकार के द्वारा कानून के बल पर दो-चार अनिष्टकारी रूढ़ियों को समाप्त कर दिया जाता तो भी इस प्रश्न का हल असम्भव था।

स्वामी जी लिखते हैं कि जाति की समस्या भारत की विशाल जनयष्टि की समस्या हैं। इसका सुन्दर समाधान प्राप्त करने के लिए भारतीय समाज पर समग्रतापूर्वक विचार करना आवश्यक है। यदि हम जाति भेद के उच्चाटन के लिए समस्त भारतीयों को एक वर्ग या एक अखण्ड जाति के अन्तर्गत लाना चाहते हैं तो सबसे पहले बद्धमूल संस्कारों का दृढ़ विरोध करना होगा। परम्परागत और निर्जीव आचार नियमों का, और पुराने किन्तु प्रचलित रीतिरिवाजों का त्याग करना आवश्यक है। प्रगतिशील विश्व की गति को देखते हुए हिन्दू-समाज की उच्च और निम्न मानी जानेवाली जातियों में सुधार करना आवश्यक है। जाति जितनी उच्च होती है,उसके बन्धन उतने ही अधिक होते हैं। इसीलिए ऊँची जातियाँ रूढ़ियों की जंजीरों में बँधी हुई हैं तथा निम्न जातियों को अनेक प्रकार से दलित किया गया है। ऊँची जातियों ने निम्न जातियों से सभी प्रकार से सम्भव सम्पर्कों को त्यागने का प्रयत्न किया है। दरिद्रता और अज्ञान निम्न जातियों के गहरे मित्र हैं,इसलिए उन्हें चिरकाल से दुःख भोगना पड़ा है। इन जातियों का उद्धार अत्यावश्यक था। किन्तु, क्या निम्न जातियों के उद्धार के लिए ऊँची जातियों को कुचल दिया जाय? क्या मत्सर, द्वेष आदि भावनाओं से पूर्ण समाज-सुधार

का कार्य कभी सफल हो सकता है ?

स्वामी जी का कथन है कि ईर्ष्या की भावना गुलामों की मनोवृत्ति का प्रतीक है। जो भारतीय स्वतन्त्र होने की महत्वाकांक्षा रखते हैं, उन्हें इस भावना का त्याग करना ही चाहिए। जातियों के बीच वैमनस्य की वृद्धि होने से ध्येय की सिद्धि नहीं होती। यदि जातियों में परस्पर द्वेष-भाव बना रहे, वे आपस में उलझती रहें तो भला किस प्रकार कार्य की सिद्धि हो सकती है ? क्या केवल विनाश (destruction) को लक्ष्य बनाकर कोई ठोस कार्य किया जा सकता है? स्वामीजी कहते हैं कि इस प्रणाली का उपयोग करने से हमारी स्थिति 'इतो नष्टः ततो भ्रष्टः' की सी हो जाएगी। ऐसी स्थिति में हमारे बद्धमूल जातीय गुणों का न तो निराकरण हो सकेगा और न पश्चिमी जीवन के तत्वों का प्रवेश ही हममें हो सकेगा।

यदि हम जाति-भेद को निर्मूल करने के लिए स्वधर्म का त्याग करते हैं तो भी इससे कोई विशेष लाभ नहीं होगा। जाति-व्यवस्था एक सामाजिक संस्था है। हिन्दू-समाज में ऊँची और नीची भावनाओं का प्रवेश धर्मकी शिक्षा के कारण नहीं हुआ प्रत्युत वह धर्म को भुला देने के कारण उत्पन्न हुआ है। इस गलती का प्रमुख कारण यह है कि हमने अपने आचरण में उदात्त धर्म तत्वों को उतारना भुला दिया है। वास्तविक स्थिति को जानकर भी हम अपनी अवनति का दोष धर्म पर क्यों मढ़ें ?

जाति-भेद की समस्या इतनी सरल और सीधी नहीं

है कि उसका समाधान शीघ्र ही प्राप्त किया जा सके। सबसे पहली आवश्यकता यह है कि मूलवर्णों में सभी जातियों का अन्तर्भाव कर दिया जाए। एक ही जाति के अन्तर्गत उसकी उपजातियों को सामाहित कर देना चाहिए। स्वामीजी का मत था कि इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए विभिन्न उपजातियों में परस्पर विवाह की पद्धति आरम्भ कर देनी चाहिए। जाति-भेद को जन्मसिद्ध न मानकर गुण और कर्मों के आधार पर मानना ही उचित है। प्रत्येक मनुष्य को अपने स्वभाव के अनुरूप जो कार्य मिलता है, उसका सम्पादन ही सच्चा जाति-धर्म है। यदि प्रत्येक व्यक्ति इस धर्म का पालन करेगा तो हमारे देश का अधःपतन कदापि न होगा।

स्वामीजी का कथन है कि यदि कोई ऐसे राष्ट्र का गठन सम्भव हो सके जिसमें पुरोहित युग का ज्ञान, सामन्त युग की संस्कृति, वणिक् युग के प्रसार का आदर्श और श्रमिक युग के साम्य का उद्देश्य—ये सब सुरक्षित रह सके अथवा उनके दोष न रहें तो वह आदर्श राष्ट्र बन सकता है। परन्तु क्या यह सम्भव है?

स्वामीजी निराशावादी नहीं हैं। भारत के उज्ज्वल भविष्य के सम्बन्ध में उन्हें तनिक भी संदेह नहीं है, किन्तु उनके स्वप्न को साकार करने की आशा तभी की जा सकती है जब भारतीय अविश्रान्त रूप से परिश्रम करें। स्वामीजी विकासवाद पर विश्वास रखते थे। वे सर्वांगीण विकास की कामना करते थे। वे कहते हैं कि

"विकसित जीवन में विरोध को स्थान नहीं है, न्यूनता को स्थान नहीं है तथा काल के स्वल्पत्व को भी कोई आधार नहीं है।"

विदेशियों की सहायता अथवा उनके अनुकरण के द्वारा हम इस विकास-कार्य का सम्पादन नहीं कर सकते। जोर-जबरदस्ती से भी इस कार्य में कोई लाभ नहीं होगा। यदि हम समाज के लोगों को उनके सच्चे स्वरूप की पहचान करा दें तो उनके जीवन का विकास सम्भव है। हमारे लिए यह श्रेयस्कर होगा कि हम इस कार्य को भारतीय संस्कृति का अनुशीलन करते हुए इस प्रकार सम्पादित करें कि हिन्दू-संस्कृति की विशेषताओं को तनिक भी धक्का न लगे। चेतनापूर्ण नवीन समाज का निर्माण करना अतीव आवश्यक है तथा वेदान्त के तत्त्वों के अनुसार ही उसकी रचना की जानी चाहिए। स्वामीजी का कथन है, "वेदान्त यही कहता है कि संसार का वास्तविक रूप क्या है, इसे जान लेना चाहिए। इसका ज्ञान प्राप्त कर लेने पर संसार तुम्हारा अनिष्ट नहीं कर सकेगा; तुम्हें घायल नहीं कर सकेगा।"

"प्रत्येक व्यक्ति को यह शिक्षा देना आवश्यक है कि सबके अन्तर्मन में विद्यमान आत्मा ही परमात्मा है, इसलिए सभी महान् हो सकते हैं, अच्छे बन सकते हैं। जातीय विकास के अवरोधों को श्रद्धा और आत्मविश्वास से दूर किया जा सकता है।"

कार्य और विचार की स्वतंत्रता विकास कार्य में बड़ा

महत्त्व रखती है। पर स्वातंत्र्य का धर्म स्वैराचार (स्वच्छंदता) नहीं है। हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि हमारी स्वतंत्रता के कारण समीप के लोगों को कुछ भी कष्ट न हो। विकास की गति सदैव धीमी रहा करती है। जो दोष हम में शताब्दियों से प्रविष्ट हो गए हैं उनका एकबारगी नाश करना असम्भव है। मानव-मन पर संस्कारों का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। इस तथ्य की अनुभूति स्वामीजी ने स्वयं की थी तथा उनके लेखों में इसका उल्लेख भी हुआ है। स्वामीजी का विचार था कि ठोस रूप से समाज-सुधार करने के लिए सुधारकों को शिक्षा कार्य अपने ऊपर ले लेना चाहिए। स्वामीजीने शिक्षा की परिभाषा देते हुए बताया है कि "जिससे हममें मूल रूप से विद्यमान वृत्तियों, शक्तियों तथा कलाओं का पूर्ण विकास हो सकता है उसे ही सच्ची शिक्षा कहेंगे। अथवा हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि वही सच्ची शिक्षा है जो हमारी इच्छा शक्ति को उचित एवं सत् मार्ग की ओर प्रवृत्त कर कार्य सिद्धि की प्रेरणा दे सके।"

शैक्षणिक कार्य राष्ट्रीय कार्य है तथा स्वावलम्बन ही इस कार्य का उपयुक्त मार्ग है। स्वामीजी कहते हैं "हमारे राष्ट्र की सच्ची शक्ति स्वावलम्बन में है। यदि कोई राष्ट्र स्वावलम्बी नहीं है तो एक स्वतंत्र राष्ट्र का स्तर प्राप्त करने के लिए उसे कुछ वर्ष और रुकना पड़ेगा।"

चरित्रवान्, सदाचारी तथा विद्वान् शिक्षकों के अभाव में लोक-शिक्षा का कार्य सफल नहीं हो सकता। यदि

ऐसा न होता तो समृद्ध ग्रन्थालयों के द्वारा ही यह कार्य सम्पन्न हो गया होता। स्वामीजी भारतीय युवकों का आह्वान करते हुए उनसे शिक्षा कार्य के लिए अपना जीवन समर्पित करने का अनुरोध करते हैं। जो व्यक्ति इस महान् राष्ट्रीय कार्य का संपादन करना चाहता है उसमें केवल बुद्धिमत्ता ही नहीं होनी चाहिए, उसमें आन्तरिक तीव्रता होनी चाहिए, त्याग की भावना के साथ दृढ़ निश्चय भी होना चाहिए। स्वामीजी लिखते हैं कि "भारतीय जीवन का मूल त्याग में ही है। त्याग और सेवा ही भारत के दो चिरन्तन आदर्श रहे हैं। यदि हम भारतीय जीवन में इन दो आदर्शों को गतिशील बना सके, तो अन्य समस्याएँ आप ही आप हल हो जायेंगी।"

"राष्ट्र को उन्नत करने के लिए असीम प्रेम और अनन्त धैर्य के साथ शिक्षा का प्रसार करना चाहिए जिससे अन्तःकरण की भावना में धीरे-धीरे परिवर्तन हो सके।"

समाज के लोगों तक आदर्श विचारों और कल्पनाओं का प्रसार करने के लिए अधिकारी और योग्य शिक्षकों की आवश्यकता है। यदि शिक्षक वर्ग विद्वान् है तो उत्तम ही है, पर समाज-शिक्षण के लिए केवल 'किताबी कीड़ों' की नियुक्ति करना अनुचित है, यदि उन्हें विद्वता के साथ-साथ ज्ञान को आत्मसात् करने की कला का भी ज्ञान नहीं होगा तो 'यथा खरश्चन्दन भारवाही भारस्यो वेत्ता न तु चन्दनस्य' की-सी स्थिति हो जाएगी।

लोक शिक्षा में धार्मिक शिक्षा का भी समावेश होना

चाहिए। स्वामीजी कहते हैं, "केवल आध्यात्मिक एवं नैतिक शिक्षा और संस्कारों में ही वह शक्ति है, जिससे जाति की असत् प्रवृतियों में परिवर्तन हो सकता है और वह सन्मार्ग में लग सकती है।" अज्ञान का नाश करने के लिए हमें धर्माचरण और धर्म को त्यागना नहीं होगा किन्तु हिन्दू-धर्म के महान् तत्त्वों को आचरण में उतारना होगा। स्वामीजी लिखते हैं, "हमारे जीवन में धार्मिक आदर्श परिव्याप्त हो जायें। हमारे सम्पूर्ण विचारों में वे प्रवृष्ट हो जाएँ और हमारे आचरण में अधिकाधिक व्यवहृत हों।"

"धार्मिक शिक्षा का अर्थ धर्मान्धता नहीं है अपितु सभी वस्तुओं का आत्मीयतापूर्ण स्वीकरण है। न तो किसी का त्याग और न किसी से द्वेष ही।" स्वामीजी राष्ट्रनिर्माणकारी शिक्षा की कामना करते थे। उनकी इच्छा थी कि धर्म की पीठिका पर स्वाभिमान और राष्ट्र-भक्ति का आलोक प्रदीप्त हो उठे। शिक्षा का उद्देश्य चरित्र का गठन और मनुष्य का निर्माण होना चाहिए। स्वामी जी ने निम्नलिखित शब्दों में मानव के लक्षण को स्पष्ट किया है—"नारी के समान कोमल किन्तु शक्तिवान् और बलवान् होना, सभी बातों में स्वाधीनता-प्रिय किन्तु विनीत और आज्ञाकारी होना ही मानव का लक्षण है।" प्रत्येक सुशिक्षित व्यक्ति को शिक्षा-कार्य का उत्तरदायित्व ग्रहण करना चाहिए। प्रत्येक सुशिक्षित व्यक्ति को लोक शिक्षण के कार्य में तब तक लगे रहना चाहिए जब तक

समाज में अज्ञानता और दरिद्रता शेष हैं।

कोई भी सामाजिक कार्य उतना सरल नहीं होता जितना वह प्रतीत होता है। यद्यपि प्रत्येक कर्य में धन की आवश्यकता होती है किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि यह कार्य केवल अमीरों का है। स्वामी जी कहते हैं, "अमीरों पर निर्भर मत रहो। संसार क बड़े बड़े कार्य गरीबों के परिश्रमसे ही सम्पन्न हुए हैं।" सामाजिक कार्यकर्त्ताओं को सम्बोधित करते हुए स्वामीजी कहते हैं कि उन्हें संसार में दाता की भूमिका पर कार्य करना होगा संसार से कुछ भी अपेक्षा नहीं रखनी हागी। यदि हमारे मन में इतनी दृढ़ता रहे तो हम लोकसेवा का कार्य अधिक कर सकते हैं। लोकसेवा के कार्य के लिए कार्यकर्त्ताओं की जितनी अधिक आवश्यकता होती है उतनी ही अधिक आवश्यकता उत्कृष्ट संगठन की भी होती है। पश्चिमी देशों का भ्रमण करते समय स्वामीजी को पाश्चात्य संगठन-कौशल को समीप से देखने का अवसर मिला था। वे कहते हैं कि पश्चिमी लोगों की सफलता का मर्म उनका सगठन कौशल है। स्वामीजी मानवी मनकी उच्च एवं निम्न भावनाओं तथा सगठन की समस्याओं से भलीभाँति परिचित थे। इसीलिए वे उत्साही कार्यकर्ताओं को सम्बोधित कर कहते हैं, "लोककार्य के लिए कटिबद्ध स्वयंसेवकों को सहनशील होना चाहिए। उन्हें स्वयं में सहकारिता एवं आज्ञापालन की आदत का निर्माण करना चाहिए। परस्पर विश्वास भाव हो। ढोगी वृत्ति, धूर्तता

और स्वार्थ-साधन इत्यादि दुर्गुणों को निर्ममता से त्याग देना चाहिए। इस प्रकार प्रवृत्त होकर, स्वीकार किये हुए कार्य को ईश्वर-प्रदत्त मानकर उसकी सिद्धि में हमें जी-जान से लग जाना चाहिए। तब भला सफलता कैसे दूर रह सकती है?"

स्वामीजी ने लोकशिक्षा के साथ ही अस्पृश्यवर्ग की समस्याओं पर भी पर्याप्त ध्यान दिया है। उन्हें इस बात की पूरी धारणा थी कि दलित वर्ग की दयनीय स्थिति को सुधारने का कार्य जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही कठिन है। दरिद्रता, अज्ञान और दुःख से पीड़ित यह वर्ग अपने स्वत्व को भूल चुका था। उच्चवर्ग दलितवर्ग के प्रति जिस प्रकार व्यवहार करता था वह स्वामीजी को रुचिकर नहीं था। उनका प्रश्न था कि उच्चवर्ग जो व्यवहार परधर्मियों के प्रति प्रदर्शित करता है वैसा अपने इन स्वधर्मियों के प्रति क्यों नहीं करता? अर्थहीन अस्पृश्यता पर स्वामीजी का विश्वास नहीं था। उनका उदार मत सामाजिक आचार विषयक विचारों में स्पष्ट है। भारत के प्रत्येक महापुरुष ने जाति के बन्धन को तोड़ने का प्रयत्न किया है। गौतम बुद्ध ने जाति को मूलस्वरूप देने का प्रयास किया था। शंकराचार्य ने वैदिक परम्परा और चातुर्वर्ण्य व्यवस्था पर तनिक भी आघात न करते हुए हिन्दू-समाज का उद्धार किया था। शंकराचार्य का मार्ग स्वामीजी को अधिक श्रेयस्कर प्रतीत हुआ।

स्वामीजी के युग में समाज-सुधार के कार्यों में नारी

जीवन विषयक समस्याओं को प्रधानता मिली थी। तत्कालीन विद्वानों एवं समाज-सुधारकों ने नारी-शिक्षा, विधवा-विवाह, बालविवाह-प्रतिबन्ध, नारी के साम्पत्तिक अधिकार इत्यादि समस्याओं के पक्ष-विपक्ष में प्रचुर चर्चा की थी। यद्यपि स्वामीजी का कार्यक्षेत्र भिन्न था, तथापि नारी जीवन विषयक समस्याओं के बारे में उन्होंने प्रसंगानुसार अपने विचार स्पष्ट रूप से व्यक्त किये हैं। स्वामी जी के इन विचारों को हम 'विवेक-ज्योति' के प्रथम अंक में प्रकाशित अपने लेख "स्वामी विवेकानन्द और नारी-समाज" में व्यक्त कर ही चुके हैं।
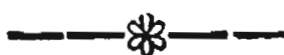
भारत की समस्याओं पर स्वामी विवेकानन्द के विचार

मूल लेखिका—श्रीमती चन्द्रकुमारी हण्डू, एम० ए०

अनुवादक—डा० त्रेतानाथजी तिवारी

उन्नीसवीं शताब्दी के परार्ध से रेल, रेडियो, तार आदि द्वारा परस्पर सम्बन्धित होने के फल स्वरूप, भारत के विभिन्न अंचलो को सस्ते और लोकप्रिय मुद्रण के माध्यम से अपने विचारों को सरलतापूर्वक एवं स्पष्ट रूप से व्यक्त करने की सुविधा प्राप्त होगई है। परिणामस्वरूप हम देखते हैं कि देश अपनी आन्तरिक समस्याओं के वैचित्र्य, विस्तार एवं जटिलताओं से अतीव क्षुब्ध हो उठा है। यह पहले ही स्पष्ट हो गया था कि हमारी प्रगति दिग्भ्रष्ट हो चुकी है तथा सब इस पर सहमत हो गये थे कि एक विस्तृत सुधारणा आवश्यक है। इस उद्दश्य से अनेकों प्रशंसनीय सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक एवं राजनैतिक सुधार-योजनाएँ सराहनीय उद्योग एवं उत्साह से परिचालित की गईं। किन्तु दृष्टिगोचर यही हुआ कि ये योजनाएँ स्वयमेव उत्तम होती हुई भी विशेष सफल नहीं हो पाईं।

इसका प्रथम कारण यह था कि सुधारकगण जितनी रचनात्मक प्रगति करते थे, उससे कहीं अधिक विनाश करना चाहते थे। तथापि तत्कालीन भारत की परिस्थिति का अवलोकन करने से ऐसी प्रवृत्ति का उत्पन्न होना आश्चर्य-

जनक नहीं माना जा सकता। देखिये न, इनके सन्मुख एक प्राचीन देश था जिसकी प्राचीन संस्कृति थी, किन्तु अब वह दासता और दरिद्रता से घिरा हुआ था एवं दासता और दारिद्र्य के सब सहगामी दूषण उसे पीड़ित कर रहे थे। इधर, सर्वत्र विजयशील, तथा अपने बाह्य चाकचिक्य से भ्राजमान पाश्चात्य भौतिकवाद, पतन और अपमान के गर्त में पतित भारत को चुनौती दे रहा था। किन्तु यह चाकचिक्य अभी अत्यन्त शैशव में था और प्रतीची को इसके आन्तरिक बल और इसकी नींव की दृढ़ता का परिचय प्राप्त कर इस पर संशय करने का अवसर न आया था। भारत अपने प्राचीन सांस्कृतिक अर्जन को फेंककर नये को अपनाने के लोभ के सकटपूर्ण सान्निध्य में आ पहुँचा था, और अपने नैतिक संयत जीवन के नियमों और आध्यात्मिक व्रतचर्या का जुआ शारीरिक सुख, ऐहिक शक्ति, चित्त एवं विलासिता तथा भौतिक प्रतिस्पर्धात्मक जीवन की चकाचौंध के साथ खेलने को तैयार था।

इसका द्वितीय कारण यह था कि राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक जीवन के मंच पर स्वामी विवेकानन्द के उदय के पूर्व तक भारतीय समस्याओं का, न तो किसी ने भारत के उन्नत भूत कालीन वैभव के दृष्टिकोण से उचित समीक्षण किया था, जैसा कि होना आवश्यक था, न ही भारत ने संसार की अन्यान्य समस्याओं के विस्तृत दृष्टिकोण से उसमें अपने योग्य स्थान की परिकल्पना की थी। जीवन का तत्त्व एक वैदान्तिक सत्य था जिसे भारत ने एक

काल में जानकर अब विस्मृत कर दिया था। किन्तु ससार अब परिस्थितियों में पड़कर इस सत्य को मानने के लिये विवश होता जा रहा था। अर्धशताब्दी से भी अधिक काल पूर्व दोनों महायुद्धों से पहले स्वामी विवेकानन्द ने बड़ी सूझ और अन्तर्दृष्टि से भविष्यवाणी की थी कि "इस विश्व का एक परमाणु भी अकेला गति नहीं कर सकता, वह समस्त संसार को अपने साथ खींच ले जाता है। ऐसी कोई सच्ची प्रगति नहीं जो समस्त संसार को अपने पीछे-पीछे न खींच ले। और, अब यह प्रतिदिन स्पष्ट होता जा रहा है कि जातीय, राष्ट्रीय तथा अन्य संकुचित विचार-धाराओं द्वारा किसी समस्या का समाधान नहीं हो सकता। प्रत्येक विचारधारा को तब तक विशाल होना पड़ेगा जब तक कि वह समस्त संसार को समाविष्ट न कर ले। प्रत्येक महत्त्वाकांक्षा का विस्तार होना अनिवार्य है जब तक कि वह समस्त मानवता को समस्त जीव-जगत् को अपने अंक में न भर ले।"

भारत क्या है ?

स्वामी विवेकानन्द के कार्य-काल के पूर्व समस्त सुधार-वादी आन्दोलन, सब प्रकार के उत्तम उद्दश्यों से मुक्त होते हुए भी उदार दृष्टिकोण एवं सूझ के अभाव में अनिवार्य रूपसे खण्डव्यापी एवं सतहस्पर्शी ही रहे। भारत की समस्याओं के विषय में स्वामीजी की अपनी विचारधारा तथा उनकी क्रियात्मक विधियाँ अपनी नवीनता द्वारा चकित कर

देनेवालीं थीं। भारत की समस्याओं का भारत के व्यक्तित्व से निकटतम सम्बन्ध है अतएव हमारे लिये पहले इस बात का अध्ययन करना उचित होगा कि 'भारत क्या है ?' मानो इसी प्रश्न के उत्तर में स्वामी जी ने समग्र एवं काव्यात्मक रूप से निम्नलिखित शब्दों में भारत का वर्णन किया है- 'यह (भारत) एक विशाल प्रासाद के समान है जो आज भग्न एवं धराशायी हो गया है। प्रथम बार दृष्टि डालने पर तो आपको निराश ही होना पड़ेगा।....किन्तु ठहरिये एवं अध्ययन कीजिये। तब आपको इस अवशेष के उस पार कुछ दृष्टिगोचर होगा। वास्तविकता यह है कि जब तक वह आभ्यन्तर सिद्धान्त अथवा आदर्श, जिसकी अभिव्यक्ति का स्वरूप यह बाह्य मानव है. क्षत अथवा नष्ट न हो जाय, तब तक वास्तविक मानव जीवित रहता है और उसके पुनरुज्जीवन की आशा की जा सकती है। आप का अँगरखा यदि बीस बार चोरी हो गया तो इसका अर्थ यह नहीं कि आपको नष्ट कर दिया जाय। आप नया अँगरखा प्राप्त कर सकते हैं।...कोई वैभवशाली मनुष्य यदि लूट लिया जाय तो इससे उसकी जीवनीशक्ति क्षत नहीं हो जाती, न वह मर ही जाता। उसका जीवन बना रहता है।' भारत ने कभी ऐहिक वैभव अथवा शक्ति को अपना आदर्श नहीं माना, उसने केवल धर्म को ही आदर्श माना है इसका वर्णन करते हुए वे आगे कहते हैं, 'हिन्दू मनुष्य धार्मिक बुद्धि से सोता है, धार्मिक बुद्धि से पीता है, धार्मिक बुद्धि से चलता है, धार्मिक बुद्धि से विवाह

करता है एवं धार्मिक बुद्धि से लूटता है।.....इससे ज्ञात होता है कि इस जाति की जीवनीशक्ति, इसका मूलमंत्र धर्म है।'

भारत के पतन का सर्व सामान्य कारण

स्वामी विवेकानन्द के मत से भारत के परिभव का कारण न तो अतिशापित जाति-व्यवस्था थी, न बाल-विवाह था, न ही अन्य किसी ऐसी सामाजिक रूढ़ि के दोष थे; वरन् हमारे दृष्टि कोण एवं कार्यक्षेत्र का संकुचित हो जाना ही हमारे राष्ट्रीय पतन का एक मुख्य एवं प्रबल कारण था। उन्होंने कहा कि यद्यपि विश्लेषणात्मक विज्ञान-शास्त्रों का उदय भारतवर्ष में हुआ, तथापि इस राष्ट्रीय गुण को कालान्तर में इतना बढ़ा-चढ़ाकर बताया गया कि उसका प्राण और ओज नष्ट हो गये एवं वह क्षुद्रता और मूढ़ता के स्तर पर उतर आया। स्वामीजी ने कला, संगीत एवं धर्म के शोचनीय ह्रास के सम्बन्ध में जो उदाहरण दिये हैं उनसे उपर्युक्त कथन स्पष्ट हो जायगा। उनका कहना है कि 'कला में अब उदार कल्पना नहीं रही। आकार का सामंजस्य एवं कल्पना की उदात्तता भी विलीन हो गई है। किन्तु शृङ्गारात्माक एवं दिखावे की कृति के लिए एक महान् प्रयत्न दृष्टिगोचर होने लगा है'। इसी प्रकार आधुनिक संगीत उनके मतानुसार 'स्वरों का एक झमेला' एवं 'वक्र रेखाओं का गोरख धंधा' है। वे कहते हैं, 'अब संगीत में प्राचीन संस्कृत संगीत के,

आत्मा में कम्पन उत्पन्न कर देने वाले भाव नहीं रह गये और 'मानो, प्रत्येक स्वर, न अपने पैरों पर खड़ा रहता है, न आश्चर्य जनक संगति उत्पन्न करता है। भिन्न-भिन्न स्वरों ने अपना पृथक् व्यक्तित्व खो दिया है।'

इस अवनति का निकृष्टतम रूप यह हुआ कि यह मौलिकता का अभाव एवं दिखाऊपन की अभिरुचि धर्म के क्षेत्र में भी समा गई। कहाँ पुरातन काल के ऋषियों ने अनन्त, अनाम एवं अव्यक्त ब्रह्म को चिन्तन का विषय बनाया एवं सृष्टि के रहस्य के साथ एकत्व लाभ किया, और कहाँ आज उनके आधुनिक उत्तराधिकारीगण भोजन एवं पान आदि के समान नितान्त तुच्छ विषयों की चर्चा में लगे हैं—पानी हम किस हाथ से पियें, किस-किस को हम छू सकते हैं,और इन नियमों के भङ्ग होने पर कौन से प्रायश्चित्त होने चाहिये ?— आदि। हमारे पूर्वजों के अतीन्द्रिय आदर्शवाद में प्रविष्ट अवनति का रूप कितना भीषण था! क्रोध एवं व्यंग्य में एक बार स्वामीजी तीखे शब्दों में कह उठे, 'पहले तो हम भगवान् का निवास ऊपर स्वर्ग में अथवा नीचे मानव हृदय में समझते थे, किन्तु अब जान पड़ता है कि वह रसोईघर एवं रसोई के बर्तनों में निवास करने लगा है!' वे कहते हैं, 'हमारा सर्वोच्च लक्ष्य है उदार बनना, कूपमण्डूकता को त्यागकर बाहर आना, आत्मसात् करना और सार्वभौमिक बना देना। किन्तु हम अपने को नित्य लघुतर बनाते जा रहे हैं और शास्त्रों के आदेश के विपरीत अपने को सबसे

अलग करते जा रहे हैं।'

स्वामीजी में संकीर्णता एवं अनुदारता का भाव किसी क्षेत्र में न था। वे मानवमात्र से बन्धुत्व-भाव रखते थे और समस्त भू-मंडल को उन्होंने अपना घर बना लिया था। तथापि भारत के लिये अन्तिम समय तक उनके हृदय में विशेष कोमल स्थान था। तत्कालीन अवांछनीय परिस्थिति से उनका हृदय सदा दुःखित रहता था और वे सतत् अपने देश एवं देशवासियों के उत्थान के उपायों तथा साधनों की खोज में चिन्तित रहते थे। उत्थान की प्रक्रिया में जो कठिनाइयाँ अनिवार्य रूप से उपस्थित होनेवाली थीं, उन्हें उन्होंने कभी तुच्छ नहीं गिना। उन्होंने कहा, 'भारत की समस्याएँ किसी भी अन्य देश की समस्याओं से अधिक जटिल और महत्त्वपूर्ण हैं। जाति, धर्म, भाषा, शासन आदि सबको मिलाकर राष्ट्र बनता है। इस देश में आर्य, द्रविड़, तातार, तुर्क मुगल, यूरोपीय सभी राष्ट्रों का रक्त सम्मिलित है। भाषाओं का यहाँ अत्यन्त विचित्र एकत्रीकरण है। सामाजिक रूढ़ियों और रीतियों के सम्बन्ध में कहीं-कहीं भारत के दो वर्गों में ही इतना अधिक भेद दिखाई देगा कि उसकी तुलना में भारतीय एवं यूरोपीय वर्ग की रीतियों का भेद न्यून जान पड़ेगा।'

भारतीय एकता का मूलाधार

स्वामीजी का निश्चित मत था कि जिस प्रकार

यूरोपीय राष्ट्रों में एकता का मूलाधार राजनीतिक विचार-धारा भी एवं उसी से उन्हें एकत्व की भावना प्राप्त हुई थी, उसी प्रकार भारत की राष्ट्रीय एकता एवं अवैकल्य को हम लोग धार्मिक आदर्श एवं धार्मिक भावनाओं द्वारा ही साधित कर सकेंगे। वे कहते थे, 'हम देखते हैं कि किस प्रकार एशिया में, विशेष कर भारतवर्ष में, जाति वर्ग सम्बन्धी समस्याएँ, भाषा सम्बन्धी कठिनाइयाँ तथा सामाजिक एव राष्ट्रीय समस्याएँ, सभी, धम की एकीकरण की शक्ति के समक्ष विलीन हो जाती हैं।' इस प्रकार उनके मतानुसार धार्मिक एकता का होना अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण था और भावी भारत के निर्माण में इसका सर्वप्रथम आवश्यकता थी। उत्थान-कार्य का यह एक मात्र सम्भव उपकरण था एवं चिरस्थायी सुधार-आन्दोलन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मूलाधार। हमारी पीढ़ी इस सत्य की साक्ष्य देगी, क्योंकि हम देख चुके हैं कि जब महात्मा गाँधी ने अपने राजनीतिक आन्दोलन का आधार धार्मिक आदर्शवाद पर स्थापित किया, तो देश ने उनका साथ दिया। स्वामी जी कहते थे, 'आध्यात्मिकता हमारे जीवन का रक्त स्रोत है: जब तक इस स्रोत का प्रवाह स्वच्छ, बलिष्ठ, पवित्र और प्रबल है, तब तक सब कुछ ठीक रहेगा। राजनीतिक, सामाजिक अथवा कोई भी भौतिक त्रुटि, यहाँ तक कि देश की दरिद्रता भी, इस स्रोत के पवित्र रहने से दूर हो जायगी।' 'यही राष्ट्र का जीवन स्रोत है। इसका अनुगमन करो तो यह तुम्हें यशस्वी

बनायेगा। यदि इसका त्याग कर दो तो तुम मृत्यु को प्राप्त होगे।'

यह मार्ग स्वामीजी के समकालीन सुधारकों द्वारा अपनाये हुए मार्ग से नितान्त भिन्न था। स्वामी जी ने भारत की आत्मा के वास्तविक स्वरूप का हमें दर्शन कराया और मातृभूमि के प्रति यह उनकी अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण सेवा थी। उनकी भाषा प्रेरणाप्रद एवं ओजस्विनी होती थी और वे अपने विचारों को दृढ़ विश्वासपूर्वक एवं स्पष्टता से प्रकट करते थे। इसीलिए भारतीय जनमानस पर उनके विचारों की अमिट छाप पड़ी है। रामकृष्ण संघ तो प्रत्यक्ष रूप से एवं प्रयत्नपूर्वक स्वामीजी के चरण-चिन्हों का अनुगमन कर ही रहा है, पर अन्य छोटे-बड़े सुधार-आन्दोलनों ने भी उसी समय से, अनजाने ही इसी विचारधारा को अपनाया है। स्वामीजी के जीवनी-लेखक एम० रोमाँ रोलाँ ने भारतीय एकता पर विवेचन करते हुए स्वामीजी के विषय में कहा है, 'स्वामीजी ने न केवल इस एकता को बुद्धिवाद द्वारा सिद्ध ही कर दिखाया वरन् भारत के हृदय पर अन्तर्ज्ञान के विद्युत्प्रकाश द्वारा इसकी अमिट छाप लगा दी। इस कार्य ने उनकी महानता को निर्विवाद रूप से सिद्ध कर दिया। यह कहना न्यायसंगत ही होगा कि भारत का उन्होंने भाग्य ही पलट दिया एवं उनकी वाणी समस्त मानवता के हृदय में प्रतिध्वनित होने लगी।'

धार्मिक एकता से स्वामी विवेकानन्द का अर्थ शुद्धि से

कदापि नहीं था, अर्थात् शुद्धि का जो अर्थ सर्वसाधारण में समझा जाता है—धर्म-परिवर्तन। यह अर्थ उनकी नैतिक विचारधारा के अनुसार घृणित था एवं श्रीरामकृष्ण के उपदेशानुसार भी त्याज्य था। उसका आज के रामकृष्ण विवेकानन्द-आन्दोलन के धार्मिक आदर्शवाद में भी कोई स्थान नहीं है। श्रीरामकृष्णदेव को सभी धर्म समान रूप से प्रिय थे;तथा अपनाना और आत्मसात् कर लेना स्वामी जी का सिद्धान्त था। भविष्य में मानवता को आध्यात्मिक स्वातंत्र्य की प्राप्ति कराने वाला यही मार्ग था। स्वामीजी का कहना था कि विभिन्न धर्मों को सामासिक भी होना चाहिये तथा वे एक दूसरे को केवल इसलिए तिरस्कार की दृष्टि से न देखें कि उनके ईश्वर सम्बन्धी आदर्श भिन्न-भिन्न हैं। धर्मों के सन्दर्भ में 'सहिष्णुता' शब्द को भी वे 'अपमानजनक एवं निन्दात्मक' मानते थे। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि 'ईसाई को हिन्दू या बौद्ध नहीं बनना है, न ही हिन्दू या बौद्ध को ईसाई। किन्तु प्रत्येक को एक दूसरे के मूलतत्त्व का आत्मसात् करते हुए अपने धार्मिक व्यक्तित्व का संरक्षण करना है।'

इससे स्पष्ट है कि स्वामी जी के मतानुसार भारतीय समस्या मुख्यतया आध्यात्मिक थी। सुविधा के लिये इस समस्या के आन्तरिक और बाह्य ऐसे दो भाग किये जा सकते हैं।

बाह्य समस्या

स्वामीजी के पूर्व, भारत को बाह्य समस्या के अस्तित्व

की कोई कल्पना न थी। इस कारण स्वामीजी ने उसकी जो चर्चा की और उसका जो निराकरण प्रस्तुत किया, वह उनके अन्य क्षेत्रों के अनुदान की अपेक्षा अधिक मौलिक एवं महत्वपूर्ण था। भारत को एक भयंकर हीनता की भावना ने ग्रस्त कर लिया था। उसने अन्य राष्ट्रों से स्वयं को इसलिए पृथक् कर रखा था जिससे उनके सम्पर्कजन्य दोषों से वह बच सके। किन्तु स्वामीजी का सिद्धान्त था कि प्रत्येक राष्ट्र को जीवित रहने के लिए कुछ प्रदान करना ही पड़ेगा। और वे दृढ़तापूर्वक कहते थे कि भारत इस विषय में अपवाद नहीं हो सकता।

उन्नीसवीं शताब्दी से भारत भिक्षुक के समान पाश्चात्य जगत् से सभी प्रकार के आधुनिक वैज्ञानिक एवं औद्योगिक ज्ञान प्राप्त करता जा रहा था किन्तु अपनी ओर से कुछ नहीं दे पा रहा था। उसके पास अपनी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति के भंडार के अतिरिक्त और कुछ भी तो नहीं था। इससे वह स्वयं को कुछ लज्जित-सा अनुभव करता था। स्वामीजी ने अपने उपदेशों और अपने चरित्र के द्वारा इस भाव में विपर्यय उपस्थित किया। उन्होंने कहा, 'भारत की देन धर्म, ज्ञान, दर्शन और अध्यात्मवाद की देन है।' उन्होंने पुनः कहा, 'मैं स्पष्ट कहता हूँ कि आप सर्वोत्तम रूप से कार्य तभी कर सकते है, जब वह कार्य दूसरों के लिये हो।...यदि मेरा मनन केवल भारतवर्ष के ही सम्बन्ध में सीमित रहता तो इस देश में मेरे इङ्गलैन्ड और अमेरिका जाने से जो

लाभदायक परिणाम हुए हैं उनका चतुर्थांश भी न हुआ होता।

भौतिक जगत् के नियमों के विपरीत, अध्यात्म-विद्या का दान, दान की क्रिया द्वारा शतशः परिवर्धित हो जाता है, एवं दाता और ग्रहणकर्ता दोनों को भाग्यशाली बनाता है। ऐसा दान हमें भावी पीढ़ियों को प्रचुर परिमाण में एवं अबाध रूप से देना चाहिये। पराविद्या अर्थात् परमोच्चज्ञान का संगोपन हमारे ऋषियों एवं सन्तों ने हमारे लिये स्मरणातीत काल से अत्यन्त सावधानी से किया है। अब समय आ गया है कि पर्वतों के दुर्भेद्य शिखरों से, विजन बनों एवं एकान्त गुहाओं से तथा संस्कृत साहित्य की जटिलताओं से उस विद्या को मुक्त कर उसका विस्तृत एवं प्रचुर रोपण किया जाय जिससे कालान्तर में उसकी लहलहाती खेती को काट सकें। 'यही हमारे सम्मुख महान् आदर्श है। और इसके लिये प्रत्येक को उद्यत होना पड़ेगा, वह आदर्श है—भारत द्वारा विश्व की विजय—इससे तनिक भी न्यून नहीं। हम सबको इसके लिये कटिबद्ध होना पड़ेगा। भले ही विदेशी यहाँ अपनी सेना की बाढ़ ला दें, तथापि चिन्ता मत करो। भारत! उठो, अपने अध्यात्म द्वारा विश्व की विजय करो। राष्ट्रीय जीवन का, जागृत एवं ऊर्जस्वी राष्ट्र-जागरण का एक मात्र उपाय भारतीय विचारधारा द्वारा विश्व की विजय है।

किन विपदों से बचना है

स्वामीजी ने बताया कि इस ऊर्जस्वी राष्ट्र-जीवन के निर्माण में दो बाधाओं की आशंका है। ये हैं 'नग्न भौतिक वाद' और 'घोर अंधविश्वास'; और इन दोनों के बीच से निष्कलंक बच निकलना ही सम्यक मार्ग है। भारत में दीर्घ कालके ब्रिटिश शासन तथा उसके द्वारा परिचालित शिक्षा-प्रणाली के कारण भारतीय समाज का एक अंग अपनी संस्कृति और परम्परा की अवहेलना करके पश्चिम के सर्व-व्यापी भौतिकवाद को पूर्णतया अपनाने को तैयार था। दयनीय बात तो यह थी कि विदेशी आचार का यह अन्धानुकरण सतह-स्पर्शी था और वह केवल उसके निम्नतर दोषों का ही अनुकरण था। ऐसे लोग त्रिशंकु के समान दोनों संस्कृतियों के बीच झूलते हुए दोनों से वही अंश ग्रहण करना चाहते थे जिससे उनका स्वार्थ सिद्ध हो। यह वर्ग किसी भी पक्ष के कर्तव्य और उत्तरदायित्व को नहीं निभाना चाहता था। ऐसे लोगों का घोर तिरस्कार करते हुए स्वामीजी कहते हैं, 'आज ऐसे भी लोग हैं जो पाश्चात्य ज्ञान की प्याली पीकर अपने को सर्वज्ञ समझने लगे हैं.....। उनके लिये समस्त हिन्दू विचारधारा नितान्त कूड़ा-कर्कट है, भारतीय दर्शन बालसुलभ वाचालता है, और धर्म मूढ़ों का अन्धविश्वास है।'

दूसरी ओर है अन्धविश्वास, जो मानव-गौरव के लिये पतनकारी और अशोभनीय है, अतः पुरुषकार

और दृढ़ निश्चय से उसे निर्ममता पूर्वक दूर करना ही उचित है। यदि एक ओर आधुनिक संशयवाद के परिणाम स्वरूप विश्वास का मूलोच्छेदन हो रहा है तो दूसरी ओर संशयवाद के जनक बुद्धिवाद का भी एक प्रत्यक्ष मूल्य है और उसकी अपनी उपयोगिता है। धर्म के पवित्र एवं प्राणप्रद सत्यों के चारों ओर दोषों की जो पपड़ी जम गई है, बुद्धि का प्रकाश उसे नग्न रूप में प्रकट कर देता है। धर्म का वास्तविक शत्रु तो अन्धविश्वास है, जिसे बहुधा हम श्रद्धा मान बैठते हैं। बुद्धि मानसिक स्वास्थ्य एवं स्थैर्य को अक्षुण्ण बनाये रखती है। वह स्पष्ट विचार करने में सहायक है तथा भद्दी गलतियों में पड़ने से बचाती है और आध्यात्मिक जीवन में भी गौण रूप से कुछ न कुछ सहायता अवश्य करती है। स्वामीजी कहते हैं, 'चमत्कारवाद और अन्धविश्वास को सदैव दुबलता, पतन एवं मृत्यु का ही लक्षण मानना चाहिये। अतएव इनसे बचो •••। वास्तवमें में हममें अनेक अन्धविश्वास है •••। इन्हें हमें काटना, छाँटना और नष्ट करना होगा। धर्म के सभी तत्त्व सुरक्षित हैं, बस ये काले धब्बे शीघ्रातिशीघ्र घुलते भर जायें। देखोगे, सिद्धान्त का प्रकाश अधिकाधिक फैलेगा और विशेष रूप से चमक उठेगा। इन्हें अपनाये रहो।

आन्तरिक समस्या

भौतिकवाद एवं अन्ध विश्वास की इन दोनों

पराकाष्ठाओं से बचते हुए हम यदि इस समस्या के वास्तविक स्वरूप को देखें, तो जान पड़ेगा कि भारतवर्ष के पुनरुज्जीवनके विषय में स्वामीजी को कल्पनाएँ इतनी बहुल एवं गंभीर थी कि उन्हें मूर्तरूप देने में अनेक शताब्दियाँ व्यतीत हो जायेंगी। उनकी गणना उन सर्वज्ञ ऋषियों में है जो विश्वको हस्तामलकवत् देखते हैं। अपनी तीक्ष्ण आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि द्वारा स्वामीजी भूत, भविष्य एवं वर्तमान तीनों को देख सकते थे; तथा उतनी ही सरलता पूर्वक संसार के रोगों का निदान कर सकते थे और उनके निश्चित कारणों को दिखाकर उन्हें दूर करने के उपाय बता सकते थे।

यह भारत का परम सौभाग्य था कि उसके इतिहास के ऐसे संकटपूर्ण काल में ऐसा शक्तिशाली और महान् सन्त उत्तम नेतृत्व एवं पथ-प्रदर्शन के लिये उत्पन्न हुआ। उनके समवेदनापूर्ण उद्गार हैं; "अगामी पचास वर्षों के लिए हमारा केवल एक ही विचारकेन्द्र होगा—और वह है हमारी महान् मातृभूमि भारत। दूसरे सब व्यर्थ के देवताओं को उस समय तक के लिए हमारे मन से लुप्त हो जाने दो। हमारा राष्ट्रपुरुष यही एक देवता है जो जाग रहा है, जिसके हर जगह हाथ हैं, हर जगह पैर हैं, हर जगह कान हैं—जो सब वस्तुओं में व्याप्त है। हम क्यों उन व्यर्थ के देवताओं के पीछे दौड़े और इस विराट् की पूजा क्यों न करें, जिसे हम अपने चारों ओर देखरहे हैं"

स्वामीजी के मतानुसार भारत वर्ष को आध्यात्मिक

बनाने के मोटे तौर पर चार मार्ग हैं:—शिक्षा द्वारा, जन साधारण की परिस्थिति के सुधार द्वारा, संगठन द्वारा एवं भारतीयों में उस क्रियाशीलता की वृत्ति के जागरण द्वारा, जो अबतक केवल पाश्चात्य देशों का ही वैशिष्ठ्य रही है।

शिक्षा से स्वामीजी का अर्थ यह नहीं था कि अपरिपक्व जानकारी हमारे मस्तिष्क में निर्जीव परीक्षा - पद्धति द्वारा ठूँस दी जाये; वे कहते थे कि हमें जीवन की रचना करनेवाले, मनुष्य बनानेवाले, चरित्र - निर्माण करने वाले विचारों को आत्मसात् करना होगा। वे अद्वैत वेदान्त की विचार धारा का भारत में सर्वाधिक प्रचार करना चाहते थे। वे द्वैत को केवल अद्वैत के अंग के रूप में ही स्वीकार करना चाहते थे। इसका अर्थ यह था कि हमारी साधना भले ही द्वैतात्मक हो, किन्तु हमें यह कभी न भूलना चाहिये कि अद्वैत ही हमारा ध्येय है। वेदान्त का यह एकत्व ही दर्शन, विज्ञान और धर्म की चरम सीमा है। इसके विपरीत, द्वैत में भिन्नता का भाव रहता है जो भय एवं दौर्बल्य की जननी है। भारत बहुत काल तक दुर्बल रह चुका है। इसका कारण यह है कि अद्वैत का ज्ञान जनसाधारण को नहीं दिया गया; और परिस्थिति की आँधी के थपेड़े खाते हुए, बिना लंगर के जहाज की नाईं, भारतीय जन साधारण आत्म विश्वास और ईश्वर पर विश्वास खो बैठा। उसे जागृत करते हुए स्वामी जी कहते हैं, 'विश्वास, विश्वास, अपने आप में विश्वास; विश्वास, विश्वास ईश्वर में विश्वास— यही

महानता का रहस्य है।' स्वामीजी पापको नहीं मानते थे। वे केवल त्रुटियों को मानते थे। उनकी दृष्टि में यदि कुछ भी पापमय था तो वह थी दुर्बलता। वे कहते थे कि सत्य बलप्रद है और 'अहं ब्रह्मास्मि, का वेदान्तीय सिद्धान्त ही परमोच्च' सत्य एवं परम शक्ति का मूल है, जो सिखाता है कि 'मैं उस आत्मा से तनिक भी कम नहीं हूँ जिसे न तो शस्त्र काट सकते, न अग्नि जला सकती, न जल भिगा सकता और न वायु ही सुखा सकती।'

स्वामीजी के मतानुसार देश के कल्याण के लिये जन साधारण का स्तर ऊँचा उठाना अत्यन्त आवश्यक था। राष्ट्र का निवास गरीबों की झोपड़ियों में है। यदि हमारे कोटि-कोटि बन्धुगण दरिद्रता और अज्ञान में डूबे रहें तो हमारी उन्नति कैसे हो सकती है? पर हाँ, यह भी सावधानी बरतना आवश्यक है कि जन साधारण के व्यक्तित्व का सृजन करते समय कहीं उनकी आध्यात्मिक प्रकृति नष्ट न हो जाय। उनका कथन है, 'धर्म-भावना को अक्षुण्ण रखते हुए जनसाधारण का उत्थान' इसी ध्येय-सूत्र को अपने सम्मुख रखो। अपनी विचार धारा को क्रियात्मक रूप देने के लिये उनकी विभिन्न कल्पनाएँ थीं। उनमें से एक कल्पना यह भी कि देश भर में ऐसे केन्द्र स्थापित किये जायँ, जहाँ पहले गरीबों को मौखिक शिक्षा दी जाय, तत्पश्चात् कृषि एवं उद्योग की शिक्षा दी जाय और शिल्पकला के शिक्षण के लिये कारखाने खोले जायँ।

स्वामीजी का मत था कि समाज-सेवकों के हृदय में

स्नेह और सहिष्णुता का रहना आवश्यक है। उन्होंने जापान से एक पत्र में लिखा था, 'मैं सुनता हूँ कि यहाँ जापान में ऐसा विश्वास है कि यदि बालिकाएँ अपनी गुड़ियों से पूरे हृदय से स्नेह करें तो उनमें प्राणों का संचार हो जायगा। हमारे देशवासी प्राचुर्य के वरदान से वंचित, सौभाग्यविहीन, पूर्णतया विवेकशून्य, पद दलित, सदा बुभुक्षित, कलह प्रिय और ईर्ष्यालु हो गये हैं। वे अज्ञानता और दीनता के भँवर में फँसकर दिन प्रतिदिन अधिकाधिक नीचे पहुँचते जा रहे हैं। जापानियों की तरह मेरा भी यह विश्वास है कि यदि कोई भारतीय अपने इन देशवासियों से पूर्ण हृदय से स्नेह कर सके तो भारत पुनः जागृत हो जायगा। भारत तभी जागेगा, जब सैकड़ों की संख्या में उदारचेता स्त्री और पुरुष विलासिता के आकर्षण को पूर्ण रूप से तिलांजलि देकर अपने करोड़ों देशवासियों की भलाई के लिये आतुर होकर उनकी सेवा में उत्कट रूप से जुट जायेंगे।

संगठन की शक्ति पर भी स्वामीजी का अटूट विश्वास था। वे कहते थे, 'भविष्य के महान भारत की रचना का रहस्य संगठन, शक्ति संग्रह एवं मनोबल की सहकारिता में निहित है।' इस कथन का मनोवैज्ञानिक रहस्य यह है कि पृथक् पृथक् व्यक्तियों के मनोबल के एकीभूत हो जाने से महान शक्ति प्रकट होती है। जागृत और पुनीत मनोबल में दैवी शक्ति होती है। महान् आत्माएँ अपने व्यक्तिगत मनोबल के द्वारा जो कार्य सिद्ध कर लेती हैं, जनसाधारण

उसी को अपने सम्मिलित मनोबल द्वारा संपन्न करते हैं।

भारतवर्ष के लिए स्वामीजी की अंतिम किन्तु महत्वपूर्ण अभिलाषा तीव्र रजस् की तीव्र क्रिया - शीलताकी थी उन्हीं के शब्दों में, 'यूरोप अब एक विशाल विद्युदाधानके समान हो गया है, जहाँ से उत्कट शक्ति की एक तीव्र और अविराम धारा निःसृत होकर समस्त संसार को ऊर्जस्वी बना रही है।' यद्यपि हमारा राष्ट्रीय व्यक्तित्व तमस्, निष्क्रियता एवं आलस्य में पूर्णतया डूबा हुआ है, तद्यपि हममें ऐसा अभिमान भर गया है कि हम सत्त्व अर्थात् शान्ति की उच्च स्थिति को प्राप्त कर चुके हैं। किन्तु वास्तव में सत्त्व का मार्ग तो रजस् के भीतर से होकर जाता है। किसी भी ऐतिहासिक काल में, किसी भी देश में— भले ही वह धर्मप्राण भारत ही क्यों न हो— शुद्धसात्त्विक व्यक्ति तो इने - गिने ही हो सकते हैं; क्योंकि हममें से अधिकांश के लिये क्रियाशीलता ही उन्नति का एक मात्र मार्ग है—ऐसी क्रियाशीलता जिसका लक्ष्य शान्ति है, सत्त्व है। अतः हम अपने उत्तरदायित्व से पीछे न हटें, और स्वामीजी-जैसे महापुरुष के वचनों पर श्रद्धा रखते हुए उनके भारत विषयक स्वप्न को साकार बनाने में प्रयत्नशील हों। उन्होंने भविष्यवाणी कर ही दी है, कि आध्यात्मिकता की लहर उठ रही है और क्रमशः यह समस्त संसार को आप्लावित कर देगी।

एक महान् भविष्य हमें पुकार रहा है। मानो वह कह रहा है, 'उत्तिष्ठत, युद्धस्व, विग्रह, अशान्ति और

लोभ रूपी शत्रुओं को परास्त करो, गौरव और कीर्ति का सम्पादन करो, एवं आत्मा के उस महान् राज्य का उपभोग करो; जिस पर हमारी प्राणप्रिय भारतमाता की पवित्र भूमि पर उत्पन्न प्रत्येक नर, नारी और बालक का पैतृक अधिकार है।'

'इस्टीट्यूट आफ कल्चर बुलेटिन' से साभार।

———

दैवी मातृत्व की जीवन्त विग्रह—श्रीमाँ सारदा

प्राध्यापक नरेन्द्र देव वर्मा, एम. ए., बालाघाट।

जिस प्रकार श्री भगवान् गीता में की गई प्रतिज्ञा की रक्षा करने के लिये और वैज्ञानिक अनुशीलन एवं बौद्धिक विश्लेषण की आँधियों से धर्म की डूबती हुई नौका को बचाने के लिये श्रीरामकृष्णदेव के रूप में अवतीर्ण होते हैं; उसी प्रकार ऐहिक इच्छाओं और दैहिक आकांक्षाओं के कोलाहल में छिपे हुए मातृत्व के स्वर का सन्धान करने के लिए, तथा कन्या, पत्नी और माता के प्राचीन आदर्शों को अपने व्यक्तित्व और कृतित्व से पुनः स्थापित करने के लिये जगज्जननी, श्री सारदा देवी के रूप में लीला करतीं

हैं। युगावतार श्रीरामकृष्णदेव के आगमन का विशिष्ट प्रयोजन था। वे सर्वधर्म-समन्वय के युगानुरूप आदर्श को संस्थापित करने के लिये अवतीर्ण हुये थे। अध्यात्मिक अनुभूतियों और अन्य धर्मों की साधना से उन्होंने जान लिया था कि ईश्वर - लाभ के लिये जितने मत हैं, उतने ही पथ भी हैं। 'शिव - भाव से जीवों की सेवा' को उन्होंने विश्वधर्म के रूप में प्रतिष्ठित किया था।

श्रीसारदादेवी का आविर्भाव भी साभिप्राय था। जगज्जननी इस बार संसार में ऐश्वर्यहीन साधारण महिला के रूप में आती हैं। घूँघट में रहनेवाली कुलवधू के रूप में ईश्वर की शक्ति का अवतार ग्रहण करना संसार के आध्यात्मिक इतिहास को अभूतपूर्व घटना है। आधुनिक युग में मातृ - भाव के विकास की विशेष आवश्यकता है। आधुनिक नारी ने सभ्यता के विपथगामो प्रवाह में अपने को निर्बन्ध छोड़ दिया है। वह बड़ी ही तीव्रता से नारी - स्वभाव के सहज गुणों को कृत्रिमता के परदे में छिपाने का यत्न कर रही है। किन्तु नारीत्व की सम्पूर्ण गरिमा मातृत्व में निहित है। वह केवल कामिनी बनकर अपने गौरवमण्डित रूप को प्राप्त नहीं कर सकती। इसके लिए उसे माता के आदर्श को ग्रहण करना होगा। स्नेह, दया, लज्जा, सेवा और ममता के गुणों का धारण और विकास ही, नारी की उन्नति का मूलमंत्र है। श्रीमाँ का जीवन इसी मंत्र की विशद् व्याख्या है। 'सर्व भूतों में माताका दर्शन' श्रीरामकृष्ण की चरम अनुभूति थी। श्रीमाँ

इस अनुभूति की अभिव्यक्ति बनकर आईं। यदि श्रीराम-कृष्णदेव का जीवन वेदवाक्य है, तो श्रीमाँ उसका भाष्य हैं, यदि श्रीरामकृष्णदेव मध्यान्हकालीन सूर्य हैं, तो श्री सारदादेवी उषःकालीन प्रभात-किरण हैं;यदि श्रीरामकृष्ण देव प्रश्न हैं, तो श्रीमाँ उसका उत्तर हैं।

जब महान् आत्माएँ अवतरित होती हैं, तब उनके जन्म के साथ उनका विकास भी गुप्त रूप से होता है। उनमें विलक्षणता नहीं, साधारणता होती है;उनका जीवन पूर्ण स्वाभाविक होता है। श्रीसारदादेवी सरलता और स्वाभाविकता की प्रतिमूर्ति थीं। वे स्वयं महामाया थीं, इसलिए उन्होंने अपनी महानता पर माया का आवरण डाल रखा था। उन्होंने पश्चिमी बंगाल के एक अत्यन्त साधारण गाँव, जयरामबाटी में जन्मग्रहण किया था। पर वे काली थीं, भवतारिणी जगन्माता थीं। काली का नृत्य चन्द्रमा की स्निग्ध ज्योत्स्ना में नहीं होता। काली के प्रकाश की धारणा निबिड़ अन्धकार में ही हो सकती है। वह दिन भी कृष्णपक्ष का था। सन्ध्या हो रही थी। प्रतिपल गहरे होनेवाले अन्धकार के पहले चरण में रामचन्द्र मुखर्जी के घर से शंखध्वनि होने लगी। जग-न्माता ने शिशु का रूप धारण कर दरिद्र ब्राह्मण-परिवार को कृतकृत्य कर दिया।

माता सीता अयोनिजा थीं। श्री रामकृष्णदेव के जन्म की घटना भी अलौकिक है। श्रीमाँ सारदा का जन्म भी

लौकिक नहीं था। दैवी-प्रेरणा से उनका जन्म हुआ था। जगन्माता इस बार वैभव का आसरा लेकर नहीं आई थीं। दरिद्रता के अन्धकार में ही उन्हें अपना प्रकाश दिखाना अभीष्ट था। उनका बाल्यकाल अभावों के बीच में बीता था। उनके परवर्ती जीवन में सेवा, दया और ममता का जो अनुपम स्वरूप दीखता है तथा कष्टों एवं आपदाओं के बीच हम जिस चिरप्रशान्तिमयी माँ के दर्शन करते हैं, उनका विकास इसी समय हुआ था। बाल्यकाल से ही श्रीसारदा देवी बड़ी उद्यमशीला थीं तथा घर का काम-काज करने में अपनी माता को पूरी शक्ति से सहायता करती थीं।

जिस समय श्रीसारदा देवी छः वर्षों की थीं, उसी समय उनका विवाह श्रीरामकृष्णदेव से हो गया था। तब श्रीरामकृष्ण तेईस वर्षों के थे। अब तक उन्हें आत्म-साक्षात्कार हो चुका था। दक्षिणेश्वर के निर्जन वातावरण में माँ काली के दर्शन पाकर वे दिव्यानन्द में तन्मय हो गए थे। श्रीरामकृष्णदेव की इस कठिन साधना का एक सुन्दर इतिहास है। साधना के आरम्भिक दिनों में श्रीराम-कृष्ण के प्राण जगन्माता के दर्शन के लिए आकुल-व्याकुल हो गए थे। 'माँ, माँ' का करुण क्रन्दन उनके प्राणों को चीर-चीरकर उच्चरित होरहा था। दक्षिणेश्वर की दीवालें उस 'छोटे पुजारी' के व्याकुल दिव्यावेश से पसीज गई थीं। अहर्निश जगन्माता का वियोग उनके हृदय को गीले कपड़े की तरह निचोड़ता रहता था। इधर मन्दिरमें सायं-

कालीन शंखध्वनि होती, और उधर श्री रामकृष्ण के प्राण कण्ठगत हो जाते। वे कहते, "माँ, एक दिन फिर व्यर्थ गया। दयामयी! तुमने अब भी दर्शन न दिये।" उधर काली मन्दिर में आरती के लिए घण्टियाँ बजतीं, और इधर श्रीरामकृष्ण अत्यन्त व्याकुल होकर धरती पर गिर पड़ते और अपने मुख को इतनी निर्ममता से रगड़ने लगते कि वह लहूलुहान हो जाता। उनके उस महाभाव को कौन समझ सकता था? जितने मुँह, उतनी बातें। लोग अनेक अटकलें लगाने लगे। कोई उनके महोन्माद को देखकर कहता, "अहा! बेचारे के पेट में कैसा शूल उठ रहा है।" कोई तिरस्कार करता हुआ फतवा जड़ देता, "यह तो पूरा सिड़ी है।" दक्षिणेश्वर के लोग समझते थे कि 'छोटे पुजारी' का दिमाग बिलकुल फिर गया है।

अफवाहों की चाल बड़ी तेज होती है। कामारपुकुर में माता चन्द्रमणि के कानों में भी यह बात पहुँची। माता का हृदय व्यग्र हो उठा। श्रीरामकृष्ण कामारपुकुर लाए गए। तब उन्हें जगन्माता के दर्शन हो चुके थे। विरह का हिलोरें लेता हुआ समुद्र शांत हो गया था। वियोग का उद्दीप्त क्रन्दन चिरमिलन की दिव्य रागिनी में लयमान हो गया था। पुत्र के चित्त को स्थिर देखकर माता की इच्छा उसका विवाह रचाने की हुई। आदमी भेजे गए, पर बहुत प्रयत्न के बाद भी कोई आशाजनक समाचार न मिला। जननी सोच में डूब गईं कि इस पितृहीन बालक का विवाह होगा अथवा नहीं। एक दिन श्रीरामकृष्ण भावावेश

में स्वयं ही कह उठे, "इधर-उधर ढूँढ़ना बेकार है। जयरामबाटी में रामचन्द्र मुखर्जी के यहाँ एक पात्री रखी हुई है। वहाँ जाकर देखो।" सब कुछ तो वहाँ ठीक था, पर पात्री की उम्र बहुत कम थी। किन्तु माता ने इसे ही इष्ट समझकर स्वीकार कर लिया और एक अत्यन्त शुभ पर्व में उन दोनों का मंगल-परिणय हो गया।

उक्त बातें इस परिणय को मानवी नहीं समझने देतीं। इस विवाह का शारीरिक प्रयोजन नहीं था। दो महान् आत्माओं के संयोग में ही इसकी सार्थकता थी। विश्वेश्वर यह बताना चाहते थे कि स्त्री-पुरुष का प्रेम दैहिक-सम्बन्ध पर आधारित नहीं है; या श्रीभगवान् यह दिखाना चाहते थे कि विशुद्ध प्रेम का भवन क्षणिक कायिक आकर्षण की नींव पर खड़ा नहीं होता, आत्माओं के स्वर्गीय मिलन की भित्ति पर ही उसका निर्माण होता है। और यही प्रेम परिपूर्ण है, पवित्र और विशुद्ध है। ऐसे प्रेम में दैहिक उच्छ्वासों और उसके अवसादों को कोई स्थान नहीं। वहाँ सुख नहीं है, आनन्द है; उत्तेजना नहीं है, चरम प्रशान्ति है। यह प्रेम मनुष्य को भगवान् बना देने की क्षमता रखता है; उसे वह आत्मसाक्षात्कार करा दे सकता है। भगवान् श्री रामकृष्णदेव और जगन्माता श्रीसारदा देवी के परिणय के मूल में प्रेम के असली स्वरूप को उद्घाटित करने की कामना थी—स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध के एक नवीन आदर्श को संसार में प्रतिष्ठित करने की भावना थी।

श्रीरामकृष्णदेव और श्रीसारदा देवी लौकिक दृष्टि से पति-पत्नी थे, किन्तु उनमें दैहिक इच्छा का पूर्णतः अभाव था। असल में, यह विवाह युगावतार के जीवन को सर्वांङ्गपूर्ण बनाने के लिये ही हुआ था। वे सांसारिकता से ऊपर उठकर अध्यात्म के राज्य में इस प्रकार विचरण करते थे कि साधारण लोग उनके दैवी आचरण का अर्थ समझ ही नहीं सकते थे। उनकी सामाधि को, दिव्यावेश और महाभाव को, त्याग और महानता को संसार में बँधा हुआ मनुष्य भला किस प्रकार समझ सकता था? श्रीरामकृष्णदेव का जीवन वैराग्य के तेज से चमकते हुए सूरज के समान था, जिसे देखते ही लोगों की आँखें चौंधियाँ जाती थीं। किन्तु चन्द्रमा की तापहारिणी चाँदनी के समान श्रीमाँ का जीवन सभी की धारणा के योग्य सहज-साधारण था।

विवाह के पश्चात् श्रीरामकृष्णदेव दक्षिणेश्वर लौट आए। इसके बाद बारह वर्षों का इतिहास उनकी विविध धर्मों और भावों की साधना की कहानी है। यद्यपि इस बीच श्रीरामकृष्णदेव एक-दो बार अपनी मातृभूमि कामारपुकुर गए थे, किन्तु श्रीमाँ सारदा देवी को उनके साथ रहने का अवसर नहीं मिला था। उनकी कठिन तपश्चर्या की बातें जयरामबाटी तक पहुंच गई थीं किन्तु बहुत-कुछ विकृत होकर। श्रीसारदादेवी पति के सम्बन्ध में जानने के लिए अतीव व्याकुल हो उठीं। उनके पिता को जब श्री सारदा देवी की इच्छा ज्ञात हुई तो शीघ्र ही कलकत्ते जाने

की व्यवस्था की गई। दक्षिणेश्वर में श्रीसारदा देवी अपने पति में प्रगाढ़ प्रेम और सौहार्द देखती हैं और उनके सभी संशय विलीन हो जाते हैं। अब तक श्रीरामकृष्ण सभी प्रकार की आध्यात्मिक साधनाओं को सम्पन्न कर चुके थे। अब उनके जीवन का दूसरा उद्देश्य प्रमुख हो जाता है। संसार को दाम्पत्य-जीवन का आदर्श-रूप प्रदर्शन उनका महत्त्वपूर्ण कार्य है। श्रीसारदा देवी का परिणय दैवी दाम्पत्य की चरितार्थता के लिए ही हुआ था।

श्रीरामकृष्णदेव जानते थे कि उनकी पत्नी पूर्णतः युवती हो गई है और उसके भी कुछ अधिकार हैं। उन्होंने श्रीसारदा देवी को अपने कमरे में ही सोने की अनुमति दी। एक-दो दिन ही नहीं, आठ महीनों तक वे सदा एक ही कमरे में तो क्या एक ही शय्या पर सोते रहे, किन्तु किसी भी क्षण उनके मन में किसी सांसारिक वासना का उदय नहीं हुआ। श्रीरामकृष्णदेव को इस अवधि में विशिष्ट आध्यात्मिक शक्ति की उपलब्धि हुई। इसमें श्रीसारदा देवी का कितना योग था, यह अनेक वृत्तान्तों से स्पष्ट है। एक दिन श्रीरामकृष्ण अपनी पत्नी से अत्यन्त कातर स्वर में आत्मसमर्पणमूलक भाव से कहते हैं, "जगन्माता ने मुझे बता दिया है कि वह प्रत्येक स्त्री में विद्यमान है, इसलिए मैं सभी स्त्रियों को माता के रूप में देखता हूँ, और तुम्हारे लिए भी मेरे मन में यही धारणा है। पर तुम्हारा मेरे साथ विवाह भी हुआ है इसलिए यदि तुम मुझे संसार में खींचना चाहो, तो मैं प्रस्तुत हूँ।" श्रीसारदा देवी अपने

पति के जीवन-धारण के उद्देश्य को जान चुकी थीं। उन्हें पूर्ण रूप में स्वयं को युगावतार की लीला-सहचरी के रूप में सिद्ध करना था। इसलिए वे भावविह्वल स्वर में कह उठती हैं, "नहीं तो, मैं तुम्हें संसार में भला क्यों खींचने चली। मैं तो तुमको इष्टप्राप्ति में सहयोग देने आई हूँ। मैं तुम्हारे चरणों के समीप रहकर तुम्हारी सेवा करना चाहती हूँ, तुमसे सीखना चाहती हूँ।" श्रीसारदा देवी के उत्तर को सुनकर श्री रामकृष्णदेव आनन्द के पारावार में डूब गए। इस कथन से उन्हें श्रीसारदा देवी की दैहिक और मानसिक स्थिति की ऊँचाई का परिचय भी मिल गया। श्रीमाँ भी उन्हें छोड़नेवाली नहीं थीं। एक रात्रि चरणसेवा करते हुए वे पूछ ही बैठीं, "अच्छा! तुम मुझे किस दृष्टि से देखते हो?" इस प्रश्न के उत्तर में श्रीरामकृष्ण अत्यन्त सरलता से कह देते हैं, "जो माँ मंदिर में विराजमान हैं, उन्होंने इस शरीर को जन्म दिया है और वे अभी नौबतखाने में हैं, तथा वे ही अभी मेरे पैर दबा रही हैं।" इस अवधि को श्रीरामकृष्णदेव की 'अग्नि-परीक्षा' का काल कहा जाता है। असल में, वे दोनों महा-शक्ति के अवतार थे—मूलतः अभिन्न थे। श्रीरामाकृष्णदेव के अन्तरंग भक्तों ने यह जान लिया था कि श्रीसारदादेवी साधारण महिला नहीं हैं। वे न तो साधिका हैं और न सिद्ध ही। वे नित्यसिद्धा हैं। काली, तारा, षोड़शी और भुवनेश्वरी के समान श्रीसारदा देवी आद्याशक्ति की ही अंशस्वरूपा हैं। राम और कृष्ण आधुनिक काल में श्री-

रामकृष्ण के रूप में आए थे। इसी प्रकार, सीता और सारदा के सम्मिलन से श्रीसारदा देवी का निर्माण हुआ था। परवर्ती काल में जब श्रीसारदा देवी वृन्द्रावन में निवास कर रही थीं तब कठिन तपस्या करके उन्होंने यह जान लिया था कि श्रीरामकृष्ण ही जगत् के चिन्तामणि हैं और वे स्वयं केवल सारदा ही नहीं हैं बल्कि वे ही राधा हैं। एक ही अलौकिक शक्ति का भिन्न-भिन्न युग में अलग-अलग रूपों में अवतार होता है। जो राम हैं. जो कृष्ण हैं, जो बुद्ध हैं, वे ही रामकृष्ण हैं; और जो सीता हैं, राधा हैं, यशोधरा हैं, वही सारदा हैं। श्रीरामेश्वरम् में शिवलिंग को पूजा करते समय श्रीमाँ कह उठी थीं, "जैसे मैं रख गई थी, ठीक वैसे ही हैं।" यह ध्यान देने योग्य है कि लंका से अयोध्या लौटते समय श्रीसीता ने भगवान् रामचन्द्रजी की कीर्ति को अक्षुण्ण बनाने के लिए बालुका निर्मित शिवलिंग की वहाँ पर स्थापना और पूजा की थी। तब से आज तक श्रीरामेश्वरम् में वह पूजा चली आ रही है। वहाँ श्रीमाँ का सीता-भाव जागृत हो उठा था। तब तो श्रीरामकृष्णदेव ने अपने को अत्यन्त साधारण बनाते हुए और श्रीमाँ के दैवी स्वरूप को प्रदर्शित करते हुए कहा था, "वह (सारदा) यदि इतनी भली न होती और विवेक खोकर मुझ पर जबरदस्ती करती, तो कौन कह सकता है कि मेरा सयम - बाँध टूटकर मुझमें देह-बुद्धि आती या नहीं।"

श्रीरामकृष्णदेव के लीला-संवरण पूर्व के पन्द्रह वर्ष

श्रीसारदा देवी के लिए कठोर साधना काल थे। इस अवधि में विश्वमातृत्व की सम्पूर्ति के लिए अवतरित श्रीसारदा देवी आदर्श पत्नी के रूप से लीलाएँ करती हैं। दक्षिणेश्वर में श्रीमाँ की जीवनचर्या बड़ी कठोर और तितिक्षापूर्ण थी। नौबतखाने की एक छोटी सी कोठरी में वे अपनी सास के साथ रहा करती थीं। वे बड़ी लज्जा-शीला थीं। किन्तु इससे उनकी पति-सेवा में कोई अवरोध नहीं आया। उन दिनों की अपनी अनुभूति के सम्बन्ध में वे कहा करती थीं, "ठाकुर ही गुरू, इष्ट, पुरुष, प्रकृति सभी कुछ थे··· । ठाकुर में ही सारे देवी-देवता थे। यहाँ तक कि शीतला, मनसा आदि भी।" उनका संयमयी पत्नी का रूप पूरी तरह से यहाँ विकसित हो गया था। सेवा में उन्हें किसी भी प्रकार के शारीरिक कष्ट का अनुभव नहीं होता था। उनके लिए पति की सेवा और उनका सामीप्य ही परम पुरुषार्थ था। देवमानव श्रीरामकृष्ण के संसर्ग में उनके समस्त दुःख और कष्ट आनन्द में परिणत हो गए थे।

श्रीरामकृष्ण अपने कमरे में सदैव भावावेश में डूबे रहते थे। वे कभी तो सुमधुर कीर्तन करते और कभी दिव्यावेश में नाच उठते। अपने देवतुल्य पति के इस भावमय नृत्य को श्रीमाँ घण्टों परदे की ओट से खड़ी होकर देखा करतीं। श्रीरामकृष्ण देव की दिव्य लीला के श्रवण-दर्शन के लिए उन्होंने परदे में उँगली के बराबर एक छोटासा छेद बना लिया था। उसी छेद से वे चिरप्यासे

नयनों से उस आनन्दमय महामानव के निरन्तर दर्शन किया करती थीं। खड़े-खड़े उनके पैरों में असह्य पीड़ा होने लगती थी किन्तु उससे उनके आन्तरिक आनन्द में व्यवधान नहीं होता था। स्वामी के स्वर का एक-एक आरोह-अवरोह, उनके चरणों का एक-एक चाप श्रीसारदा देवी के हृदय-सागर में आनन्द की लहरें उठा देता था। श्रीमाँ और श्रीरामकृष्णदेव के हृदय मानो उन दो किनारों के समान थे, जिन्हें चिरन्तन रूप से स्पर्श करते हुए दैवी और अतीन्द्रिय प्रेम की धारा बहा करती थी। ठाकुर[1] का स्मरण कर श्रीमाँ हर्षोत्फुल्ल कण्ठ से कहा करती थीं, "अहा! मेरे साथ उनका आचरण कितना सुन्दर था। उन्होंने एक दिन भी कोई ऐसी बात नहीं कही, जिससे मेरे हृदय को चोट पहुँचे। उन्होंने मुझे कभी फूल से भी नहीं मारा।··· मेरे पतिदेव ऐसे थे कि उन्होंने कभी तू' कहकर भी मुझे नहीं पुकारा। मुझे प्रसन्न रखने के लिए वे सदैव तत्पर रहते थे।"

श्रीरामकृष्णदेव धन को छू भी नहीं सकते थे। किन्तु उन्होंने श्रीमाँ के लिए पर्याप्त आभूषण बनवा दिया था। जब वे दास्य-भाव की साधना कर रहे थे, तब उन्होंने प्रेम करुणा और सहिष्णुता की मूर्ति माता सीता के दर्शन किये थे। उन्होंने श्रीसीता के हाथों में जिस प्रकार का

---

१. श्रीरामकृष्ण देव भक्तमण्डली के बीच 'ठाकुर' के श्रद्धामय सम्बोधन से परिचित थे।

आभूषण देखा था, वैसे ही गहने श्रीमाँ के लिए भी बना दिए गए थे। क्योंकि, श्रीरामकृष्ण जानते थे कि "वह (श्रीमाँ) सारदा है, सरस्वती है, वह शृंगार करना पसंद करती है।" उस समय श्रीमाँ नौबतखाने में सीता की भाँति रहा करती थीं। चौड़े लाल किनारे की साड़ी, सिन्दूर से सुशोभित माँग, घुटने तक झुलते हुए कृष्णवर्ण घने केश, गले में सोने का हार, नाक में बड़ी नथ, कानों में बालियाँ तथा हाथों में चूड़ियों की शोभा अपूर्व थी।

श्रीरामकृष्णदेव की शिक्षाप्रणाली बड़ी विलक्षण थी। वे अपने भक्तों को स्पर्श करके इच्छामात्र से उनमें आध्यात्मिक शक्ति का संचार कर देते थे। उनके दैवी संग और साहचर्य से श्रीमाँ को दैवीत्व की उपलब्धि सहज ही हो गई थी। श्रीरामकृष्ण श्रीसारदा देवी के देह-धारण के प्रयोजन को जानते थे। उन्हें दिव्यस्वरूप में प्रतिष्ठित करने के लिए उन्होंने षोड़शी या त्रिपुरासुन्दरी के रूप में उनकी पूजा की थी। इस अनुष्ठान से श्रीसारदा देवी विश्व-मातृत्व के मंगलमय प्रकाश से प्रदीप्त हो उठीं। इसी समय से जगज्जननी के रूप में उनका विकास प्रारम्भ हो जाता है। असल में, श्रीभगवान् ने श्रीसारदा देवी के जीवन में नारी का नवीन आदर्श और दैवी मातृत्व का अनुपम विकास उपस्थित किया है।

नारी-हृदय में मातृत्व की अभिलाषा अत्यन्त स्वाभाविक है, क्योंकि यही नारीत्वकी पूर्णता का प्रतीक है। जगज्जननी श्रीमाँ सारदा के हृदय में मातृत्व की अभि-

लाषा का उदय देह-छल से नहीं, अपितु नारी-जीवन की परिपूर्णता की दृष्टि से ही हुआ था। इसका विवरण उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है, "कामारपुकुर और यहाँ (जयरामबाटी) की स्त्रियाँ हरदम कहा करती थीं कि माँ बने बिना स्त्री कोई भी काम नहीं कर सकती बाँझ स्त्रियों को किसी भी शुभकार्य में अधिकार नहीं है। उस समय मैं बालिका थी। उनकी बातों को सुनकर मुझे दुख होता था और मैं सोचती थी कि क्या मेरी एक भी सन्तान नहीं होगी। दक्षिणेश्वर में एक दिन मुझे यह बात याद आयी। जिस दिन मेरे मन में यह बात उठी थी, मैंने किसी से कुछ भी नहीं कहा था, ठाकुर आप होकर बोले, तुम चिन्ता क्यों कर रही हो? तुमको मैं ऐसे पुत्ररत्न दे जाऊँगा, जो सिर काटकर तपस्या करने पर भी लोगों को नहीं मिलते। बाद में देखोगी, इतने लड़के तुम्हें माँ', 'माँ' कहकर पुकारेंगे कि तुम्हारा सम्हालना मुश्किल हो जाएगा।' "

श्रीरामकृष्ण को यह वाणी शत-प्रतिशत सत्य सिद्ध हुई। कमल के खिलते ही सुरभिग्राही भौंरों का समूह सुगन्धि पाकर उसके चारों ओर गुनगुनाने लगता है। श्रीरामकृष्णदेव की आध्यात्मिक उपलब्धियों के सौरभ से जिज्ञासु भक्त आकर्षित होकर दक्षिणेश्वर के कमरे में एकत्र होने लगे। उनकी सेवा और भोजन का पूरा उत्तरदायित्व श्रीमाँ पर छोड़कर श्रीकृष्णदेव निश्चिन्त होकर भगवच्चर्चा में लग गए। यहाँ श्रीसारदा देवी

भक्त-जननी के रूप में अपनी महिमा प्रकट करती हैं। जो लोग संसार की अग्नि से दग्ध होकर श्रीमाँ के चरणों में आते हैं, माता उन्हें शीतलता और शान्ति प्रदान करती हैं। श्रीरामकृष्णदेव की सेवा करना ही श्रीसारदा देवी का चिरकाम्य था। किन्तु, सन्तानों की कातरता को देखकर वे उन्हें ही सेवा करने का अवसर दे दिया करती थीं। माता की तृप्ति संतानों को तृप्त देखकर ही हो जाती है।

पतितपावन श्रीरामकृष्णदेव ने जगत् के कल्याण के लिए अपने शरीरका होम कर दिया था। पन्द्रह वर्षों के सामीप्य के पश्चात् वे अपनी लीला का संवरण कर लेते हैं। इस पर शोकातुरा श्रीमाँ अपने एक-एक आभूषणों को उतार-कर रख देती हैं। जब वे अपने हाथों के दोनों कड़ों को उतारने लगती हैं, तब श्रीरामकृष्ण आविर्भूत होकर उनके हाथों को पकड़कर कहते हैं, "क्या मैं मर गया हूँ जो तुम अपने हाथों से सुहाग का चिन्ह दूर कर रही हो ?" श्री-रामकृष्ण देव ने यद्यपि स्थूल देह का त्याग कर दिया था, फिर भी वे सूक्ष्म रूप से श्रीसारदा देवी के प्राणों के अत्यन्त समीप रहा करते थे। इस घटना के बाद भी श्री माँ शोकविह्वल होकर देह त्यागने का विचार करती हैं। किन्तु श्रीरामकृष्ण पुनः प्रकट होकर कहते हैं, "नहीं, तुम्हें रहना पड़ेगा। अभी बहुतसा कार्य बाकी है।"

असह्य वेदना से श्रीसारदा देवी का चित्त अशांत हो गया था, इसलिए वे कुछ लोगों के साथ वृन्दावन चली

गईं। देवतुल्य पति के महासमाधि में लीन हो जाने पर वृन्दावन में शोकाकुल श्रीमाँ की स्थिति विरहिणी राधिका के समान हो गई थी। दिन-रात आँखों से आँसुओं की धार बहती रहती। पतिदेव सान्निध्य में उन्होंने अपने जीवन के जो आनन्दमय क्षण बिताए थे, उनकी स्मृति आकर हृदय को सालती रहती। यहाँ श्रीरामकृष्ण फिर से दर्शन देकर सान्त्वना देते हैं, "भला तुम इतनी रोती क्यों हो? मैं तो यहीं हूँ, गया कहाँ हूँ? यह तो एक कमरे से दूसरे कमरे में जाना भर है।"

अवतार जब मानवी देह धारण करते हैं तो उन्हें मनुष्यों के समान लीलाएँ भी करनी पड़ती हैं। सीता के वियोग में श्रीराम तृण-पल्लवों से बातें करते घूमते थे। रामवियुक्ता सीता अशोकवाटिका में रात-दिन आँसुओं से नहाती रहती थीं। राधा का वियोग तो असीम था। श्रीसारदा देवी का वियोग इतना प्रगाढ़ था, जैसे राधा और सीता, दोनों की वियोग-व्यथा मिलकर एक हो गई हो। श्रीरामकृष्ण श्रीसारदा देवी के लिए अब विरह-रूप हो गए थे। विरह के दर्पण में ही उन्हें श्रीभगवान् के दर्शन होते थे। उनके ध्यान में, उनके लिए रूदन में श्रीमाँ को असीम आनन्द और शान्ति का अनुभव होता था। वियोग-व्यथा जब असह्य हो जाती, तब श्रीरामकृष्ण देव का प्रशान्तिमय स्पर्श उन्हें आनन्दमय बना देता। श्रीराम-कृष्ण-चिंतन के महासागर में श्रीमाँ ने अपने को पूरी तरह से डुबो दिया था। विद्यापति कहते हैं कि राधा का विरह

बड़ा विलक्षण है । जब वे श्रीकृष्ण का चिन्तन करती हैं तो उसमें वे इतनी लीन हो जाती हैं कि स्वयं को कृष्ण समझकर राधा के विरह में रोने लगती हैं । श्रीमाँ की दशा भी 'राधा सँय जब पुनतहि माधव, माधव सँय जब राधा' के समान हो गई थी । विरह और मिलन के दोनों दरवाजों से भगवान् श्रीरामकृष्ण देव श्रीसारदा देवी के हृदय में प्रवेश करते हैं । विरह से हृदय शुद्ध हो जाता है । श्रीरामकृष्णदेव का विछोह उनके जीवन में एक नई गरिमा, नई अनुभूति भर देता है । वे देखने लगती हैं कि श्रीरामकृष्ण ही इस विश्व के आधार हैं । प्रत्येक अणु उन्हींके प्रकाश से भास्वर है । बृन्दावन शाश्वत आनन्द की भूमि है । वहाँ चिरन्तन रूप से रासलीला होती है । जब श्रीकृष्ण रासलीला के बीच छिप गए थे तब गोपिकाओं ने ध्यान में स्वयं को कृष्णमय देखा था । श्रीसारदा देवी ने वृन्दावन में इसी महाभाव का अनुभव किया । वे प्रतिक्षण भावसमाधि में लीन रहने लगीं । गम्भीर समाधि में रात्रि व्यतीत होने लगी । दिव्यावेश में वे राधिका के समान यमुना के पुलिनों में विचरण करने लगीं । उनका हृदय धीरे-धीरे अमृतमय प्रशान्ति में स्थिर होने लगा ।

श्रीरामकृष्णदेव ने श्रीसारदा देवी को सात्त्विक जीवन बिताने का आदेश देते हुए कहा था, "तुम कामारपुकुर में रहना । शाक-सब्जी लगाना और शाक-भात खाकर हरि नाम लेती रहना ।" एक वर्ष के तीर्थाटन से

श्रीमाँ के हृदय में वैराग्य और तितिक्षा के भाव पूरी तरह से विकसित हो गए थे। अब जगन्माता ने मानवी के रूप में जीवन के कठोर सत्यों को अनुभूत करना चाहा था। श्रीसारदा देवी कामारपुकुर तो गईं, किन्तु अर्थाभाव के कारण उन्हें सोलह मील पैदल चलना पड़ा। अवतारों को भी संसार की विपदाओं को सहते हुए अपने जीवन को पूर्ण बनाना पड़ता है। लीलामयी माँ ने जगत् के सभी अभावों को पूरी तरह से ग्रहण किया था। जिस समय वे परम दरिद्रतामय जीवन बिता रही थीं, उस समय उनके शिष्यों को इस बात का भी पता नहीं चला कि उनके लिए नमक तक नहीं जुटता था। इतना ही अलम नहीं था। श्रीसारदादेवी ने ठाकुर के आदेश पर वैधव्य के चिन्हों को ग्रहण नहीं किया था, इसलिए उन्हें अन्धविश्वासी ग्रामवासियों की कठोर आलोचना का भी शिकार बनना पड़ा। यह दुःख श्रीमाँ के लिये असह्य हो गया। ठाकुर पुनः दर्शन देकर उन्हें सान्त्वना प्रदान करते हैं। इसी समय उनकी महिला - भक्त गोरदासी ने उन्हें बताया था कि उनके पतिदेव चिन्मय हैं, नित्य हैं, इसलिए उनके लिये वैधव्य भी असम्भव है। असल में, श्रीसारदा दवी साक्षात् लक्ष्मी थीं। श्रीरामकृष्ण देव ने उनक हाथों में कड़ों को बलपूर्वक रखा था, अन्यथा उनके आभूषण-त्याग से यह संसार ही श्रीहीन हो जाता।

कामारपुकुर में श्रीमाँ का जीवन आदर्श संन्यासिनी का जीवन था। त्याग और तितिक्षा की चरम उपलब्धियाँ

उन्हें यहीं मिलीं । भाव, महाभाव, और समाधि के सोपानों का आरोहण उन्होंने यहीं किया । अब तो जगन्माता का प्रकाश पूरी तरह से प्रस्फुटित हो गया । लौकिक ताप से दग्ध संतान चारों ओर से श्रीमाँ के चरणों में शीतलता प्राप्त करने के लिये आने लगे । संतानवत्सला श्रीमाँ का मातृभाव पूरी तरह से जाग्रत हो गया । श्रीरामकृष्ण देव के शिष्य श्रीमाँ सारदा को श्रीरामकृष्ण के जीवन्त प्रतीक के रूप में देखने लगे । श्रीरामकृष्ण के लीला-संवरण से भक्तों के मन में उत्पन्न शून्यता और अवसाद का निराकरण कृपामयी, शान्तिमयी और आनन्दमयी श्रीमाँ के सामीप्य से दूर होने लगा ।

उन दिनों भक्तों के अनुरोध से श्रीसारदा देवी कलकत्ते में श्रीरामकृष्ण देव के अन्तरग भक्त बलराम बाबू के यहाँ रहा करती थीं । उनकी छत में बैठकर वे घण्टों ध्यान में निमग्न रहतीं । गहन समाधि में उनकी सूक्ष्म देह स्थूल देह से अलग हो जाती । वे देखने लगतीं कि अनेक लोग उन्हें श्रीरामकृष्ण देव के पार्श्व में बैठाकर पूजा कर रहे हैं । उन्हें फिर से स्थूल देहमें प्रवेश करने में हिचक होती । किन्तु अभी तो लोक-त्राण का महान् कार्य शेष था, इसलिये, उन्हें बाध्य होकर पुनः स्थूल देह में प्रवेश करना पड़ता—चिन्मय स्वरूप में अधिक देर तक स्थित रहने का अवसर नहीं मिलता था । भक्तों के प्रयत्नों से बेलुड़ ग्राम में नीलाम्बर मुखर्जी के मकान में श्रीमाँ के रहने की व्यवस्था की गई । श्रीमाँ अपनी महिला-भक्तों, योगीन

माँ और गोलाप माँ के साथ वहाँ चली आईं। अन्तर्यामिनी श्रीमाँ बेलुड़ ग्राम के भविष्य को जान गयीं और उसे महान् तीर्थ के रूपमें प्रतिष्ठित करनेके लिए उन्होंने फिर से कठिन तपश्चर्या प्रारम्भ कर दी। निर्विकल्प समाधि की भूमिका भी उन्हें यहीं उपलब्ध हुई। समाधि से उतरने पर वे योगीन माँ से पूछने लगीं, "अरी योगेन! मेरे हाथ-पैर कहाँ हैं?" श्रीसारदा देवी का गहन गम्भीर समाधि और आध्यात्मिक उपलब्धियों से बेलुड़ ग्राम का वातावरण पूरी तरह से स्वर्गीय हो उठा। एक दिन उनके एक शिष्य ने पूछ दिया, "माँ, आपको इतनी तपस्या की क्या आवश्यकता है?" श्रीमाँ ने सहज ही उत्तर दिया, "तपस्या आवश्यक है; पार्वती ने भी शिव के लिये तपस्या की थी। यह सब जो करती हूँ, वह लोगों के लिये है।" उसने फिर पूछा, "आपके लिये इतना सब करने की क्या आवश्यकता है?" श्रीमाँ ने अब अपने को थोड़ा प्रकाशित करते हुए कहा; "बेटा, तुम लोगों के लिये। लड़के क्या इतना कर सकते हैं? इसलिये करना पड़ता है।" उनकी तपस्या स्वयं की मुक्ति के लिये कभी नहीं रही, लोक-कल्याण ही उसका ध्येय था।

श्रीरामकृष्ण पुरी धाम नहीं गए थे। इसलिए श्रीमाँ पुरी में देवदर्शन के लिये जाते समय श्रीरामकृष्ण देव के चित्रपट को आँचल में छिपाकर ले गईं। वे कहती थीं; "छाया काया के समान है।" उन्होंने चित्रपट को श्रीजगन्नाथजी के दर्शन कराये। उन्होंने वहाँ अनुभव किया कि

"जो जगन्नाथ हैं, वे ही श्रीरामकृष्ण हैं—वे ही 'मन्नाथ' हैं। श्रीरामकृष्ण देव के साथ उनका सम्बन्ध नित्य है, शाश्वत है वे पूर्ण हैं। जहाँ वे हैं, वहीं श्रीरामकृष्ण भी हैं। दोनों अभेद हैं— तद्रूप हैं।" उनका सारा विरह अवसाद अलौकिक प्रेम प्रवाह में डूब गया। भगवान् श्रीरामकृष्ण अब श्रीमाँ को एक-एक दैवी आभूषणों से युक्त करने लगे। अब श्रीमाँ प्रेम पवित्रता, सन्तोष, धृति, मुक्ति और कृपा का जीवन्त विग्रह बन गईं। उन्होंने जान लिया कि प्रत्येक युग में जीव-कल्याण के लिए वे श्रीभगवान् के साथ अवतीर्ण होती हैं। अवतार के संसर्ग में आने-वाले कीट-पतंग तक तर जाते हैं। ब्रह्म-ज्ञानी नारद ने रत्नाकर डाकू को आदि कवि बाल्मीकि बना दिया था। तथागत ने दस्यु अंगुलिमाल को निर्वाण-मार्ग में प्रवृत्त किया था। महापातकी जगाई-मधाई का उद्धार श्रीचैतन्य महाप्रभु ने किया था। भगवान् का नाम ही पतित पावन है। उनके समीप योग्य-अयोग्य का विचार नहीं रहता। भगवान् श्रीरामकृष्ण ने पाप-पंक में लिपटे गिरीशचन्द्र घोष को मुक्त किया था।

मातृ भाव परम विशुद्ध भाव है। इस स्वार्थमय संसार में निःस्वार्थ प्रम की झलक जननी में ही मिल सकती है। किन्तु उसका भी प्रेम परिवार की सामाओं में ही बँधा रहता है। श्री माँ मातृत्व की प्रतिमूर्ति थीं। उनके प्रेम की परिधि सीमाहीन थीं। विश्व युद्ध में पुत्रहीना माताओं की बात सुनकर उनका हृदय विलाप करने लगता।

जाति वर्ण तथा अन्य व्यवधान मातृत्व के दिव्य प्रवाह का पथावरोध नहीं कर सकते। इसी दिव्य मातृभाव में वे सदा विचरण करती थीं। जिसने भी कातर स्वर में उन्हें 'माँ' कहा, उसपर उन्होंने तत्त्वण कृपा करदी। परवर्ती युग में श्रीमाँ का गुरु के रूप में कार्य-संभार ग्रहण करना विशेष महत्वपूर्ण है। श्रीरामकृष्णदेव ने उनसे कहा था, "क्या सारा उत्तरदायित्व मेरा है, तुम्हारा कुछ भी नहीं ?" जगन्माता अब मुक्त हस्त से मुक्ति रूपी मणि का वितरण कर रही थीं। सब प्रकार के लोग उनके समीप दीक्षा के लिये आते थे—सुन्दर-कुरूप, त्यागी-गृहस्थ, पवित्र-अपवित्र। सभी के शीश पर श्रीमाँ का वरदहस्त रहता था। संतान धूल से सनी है तो क्या—वह तो सन्तान ही है। संसारी लोगों के स्पर्श से उनके शरीर में असह्य पीड़ा होने लगती थी। दिन में कई बार उन्हें गंगाजल से स्नान करना पड़ता था। किन्तु वे धरती माता का तरह सर्वंसहा थीं। उन्होंने अपनी संतानों के इहलोक और पर-लोक—दोनों का भार ग्रहण किया था। गुरू को तरह वे शिष्यों को मुक्ति-मार्ग में प्रवृत्त करती थीं स्नेहमयी जननी को तरह उन्हें भोजन कराती थीं, उनके जूठे बर्तनों को माँजती थीं, उनकी जूठी पत्तलों को उठाकर फेंकती थीं। माता और गुरु का जैसा अभूतपूर्व समन्वय उनमें हुआ था, वैसा संसार ने इसके पहले अन्य किसी में नहीं देखा। आध्यात्मिक साधना के चरम शिखर पर आरूढ़ होकर वे मानवी ही बनी रहीं। कठिन जीवन-

संघर्ष के बीच उनका दैवी मातृत्व सहस्रदल कमल की भाँति विकसित हो गया था। राजराजेश्वरी अपनी इच्छा से भिखारिन बनकर घर लीपती थीं, बरतन माँजती थीं, चाँवल चुनती थीं भक्त सन्तानों का जूठन तक उठाती थीं। उनकी विशेषता अपने को छिपाए रखने में, अहं का नाश कर देने में निहित थी। माया के आवरण के बिना लोक-कल्याण का कार्य सम्भव नहीं होता, इसलिए उन्होंने स्वयं को पूरी तरह से माया के आवरण में छिपा रखा था।

श्रीमाँ वर्तमान श्रीरामकृष्ण संघ की मूल प्रेरक कही जाती हैं। गया धाम में संन्यासियों के बड़-बड़े मठों को देखकर श्रीरामकृष्ण के त्यागी शिष्यों का स्मरण कर वे रोने लगी थीं। रो-रोकर उन्होंने प्रार्थना की थी, "ठाकुर, तुम अपनी सन्तानों के लिये भी इसी प्रकार का एक स्थान बना दो जिससे तुम्हारे लिए जिसने संसार का त्याग किया है, उसे जीवन-यापन करने के लिए भिक्षा माँगते हुए दर-दर भटकना न पड़े।" भगवान् श्रीरामकृष्ण देव के अनुरोध से ही उन्होंने अपनी संतानों का भार गुरु-रूप से ग्रहण किया था। वे कहा करती थीं कि जो भी ठाकुर की शरण जाएगा, उसे वे अन्तिम समय में स्वयं आकर ले जाएँगे। जो गृहस्थ, भक्त भजन पूजन, नाम-जप करने में असमर्थ होते थे, उन्हें सान्त्वना देती हुई सन्तानवत्सला श्रीमाँ कहा करती थीं, "तुम्हें कुछ न करना होगा, तुम्हारे लिये मैं ही करूँगी" जीवन-संघर्ष के

भयावह आघातों से हताश संतानों के हृदय में अमृतमय प्रशान्ति और शक्ति का संचार करते हुए वे कहती थीं, "हर घड़ी सोचना कि तुम्हारे पीछे एक जन है। मैं हूँ बेटा, फिर डर क्या?" जीवन में प्रशान्ति की कामना करने वालों को उनका उपदेश था, "यदि तुम मन की शान्ति चाहते हो, तो दूसरों में दोष देखने की प्रवृत्ति छोड़ दो। देखना ही है, तो अपने दोष देखो। समस्त विश्व को आत्मवत् समझो। कोई अपरिचित नहीं है। सारा संसार म्हारा अपना है।"

श्रीरामकृष्ण देव और श्रीमाँ में दैवी गुणों का थोड़ा पृथक् विकास हुआ था। भगवान् श्रीरामकृष्णदेव विषयी लोगों का स्पर्श तक सहन नहीं कर सकते थे। श्रीमाँ संसारी लोगों से ही घिरी रहती थीं। श्रीरामकृष्ण सन्यासी प्रवर थे। श्रीसारदा देवी के जीवन में सन्यास और संसार का अभूतपूर्व योग हुआ था। श्रीरामकृष्ण धन का स्पर्श तक सहन नहीं कर सकते थे। श्रीमाँ उसे लक्ष्मी समझकर माथे से लगा लेती थीं। अद्वैत-ज्ञान को लेकर संसार में किस प्रकार रहा जा सकता है—श्रीमाँ का जीवन इसका जीवन्त उदाहरण है। उनका सम्पूर्ण जीवन 'शिव-भाव से जीव-सेवा' का भाष्य है। तभी तो नाट्या-चार्य गिरीशचन्द्र घोष कह उठे थे, "माँ पिता से भी अधिक दयालु है। ममतामयी है," और उन्होंने श्रीमाँ की दसभुजा दुर्गा के रूप में पूजा की थी। स्वामी विवेका-नन्द उन्हें बगलादेवी का अवतार कहते थे। किन्तु,

सर्वोपरि, श्रीमाँ ने अपने जीवन को अत्यन्त साधारण बना रखा था। इसी को लक्ष्य कर स्वामी प्रेमानन्द कह उठे थे, "श्री माँ को भला कौन पहचान सकता है? उनमें ऐश्वर्य का तनिक भी प्रकाश नहीं है। ठाकुर में तो विद्या का ऐश्वर्य था; पर माँ में तो उसका लेशमात्र भी नहीं है। कैसी अपूर्व महाशक्ति है? जय हो माँ, तुम्हारी जय हो !! महाशक्तिस्वरूपिणी, तुम्हारी जय हो !!! जिस विष को हम नहीं पचा सकते, उसे श्री माँ के पास भेज देते हैं। और, श्रीमाँ सबको अपनी गोद में खींच लेती हैं। अनन्त शक्ति-अपार करुणा। जय हो, माँ की जय हो ! हम लोगों को बात तो रहने दे, स्वयं ठाकुर को भी ऐसा करते नहीं देखा। वे भी कितना 'ठोक-पीटकर,' 'देख-सुनकर' शिष्य बनाते थे। पर यहाँ माँ के पास क्या देखता हूँ ? यहाँ की बात ही निराली है ! सब अद्भुत व्यापार है। वे सबको आश्रय दे रही हैं। सभी की वस्तुओं को ग्रहण कर रही हैं और सब कुछ पचा जा रही हैं। जय ! जय ! जय हो माँ !!"

चरित्र-निर्माण

(इस स्तम्भ के अन्तर्गत कुछ ऐसी जीवन-रेखाएं प्रस्तुत को जायेंगी, जो हमारे चरित्र के निर्माण में सहायक हों। पाठक आदर्श जीवन-झांकियाँ भेज सकते हैं।)

१. मस्तक-विक्रय

(कवीन्द्र रवीन्द्र की बँगला कृति का अनुवाद "सत्कथांक" कल्याण ३०/१)

कोसल के राजा का नाम दिग-दिगन्त में फैल रहा था। वे दीनों के रक्षक और निराधार के आधार थे। काशीपति ने जव उनकी कीर्ति सुनी, तब वे जल-भुन गये। झट उन्होंने एक बड़ी सेना ली और कोसल पर चढ़ आये। युद्ध में कोसल - नरेश हार गये और वन में भाग गये। पर किसी ने काशिराज का स्वागत नहीं किया। कोशल-नरेश की पराजय से वहाँ की प्रजा रात-दिन रोने लगी। काशिराज ने देखा कि प्रजा उसका सह-योग कर कहीं पुनः विद्रोह न कर बैठे, इसलिये शत्रु को निःशेष करने के लिये उन्होंने घोषणा करा दी कि—'जो कोसलपति को ढूँढ़ लायेगा, उसे सौ मुहरें दी जायेंगी।' जिसने भी यह धोषणा सुनी आँख-कान बंदकर जीभ दबाली।

इधर कोसल-नरेश दीन-मलिन हो जंगलों में भटक रहे थे। एक दिन एक पथिक उनके सामने आया और पूछने

लगा—'वनवासी ! इस वन का कहाँ जाकर अन्त होता है और कोशलपुर का मार्ग कौन सा है," पथिक बोला—'मैं व्यापारी हूँ। मेरी नौका डूब गई है। अब द्वार-द्वार कहाँ भीख माँगता फिरूँ। सुना था कि कोसल का राजा बड़ा उदार है. अतएव उसी के दरवाजे जा रहा हूँ।' थोड़ी देर तक कुछ सोचकर राजा ने कहा—'चलो, तुम्हें वहाँ तक पहुँचा ही आऊँ। तुम बहुत दूर से हैरान होकर आये हो।'

× × ×

काशिराज की सभा में एक जटाधारी व्यक्ति आया। काशीनरेश ने पूछा—'कहिये किसलिये पधारे?' जटाधारी ने कहा—'मैं कोसलराज हूँ। तुमने मुझे पकड़ लाने वाले को सौ स्वर्ण-मुद्रा देने की घोषणा कराइ है। बस,मेरे इस साथी को वह धन दे दो। इसने मुझे पकड़कर तुम्हारे पास उपस्थित किया है।'

सारी सभा सन्न रह गई। प्रहरी की आँखों में भी आँसू आ गये। काशीपति सारी बातें जानकर स्तब्ध रह गये। क्षण भरके बाद वे बोल उठे—'महाराज! आज युद्ध-स्थल में इस दुरन्त आशा को ही जीतूँगा। आप का राज्य भी लौटा देता हूँ, साथ ही अपना हृदय भी प्रदान करता हूँ।' बस, झट उन्होंने उनका हाथ पकड़ कर सिंहासन पर बिठला दिया और उनके मलिन मस्तक पर मुकुट चढ़ा दिया। सारी सभा धन्य-धन्य कह उठी। व्यापारी को मुँहमाँगी मुद्राएँ तो मिलनी ही थीं।

२. भारतीय संस्कृति का आदर्श

किसी विदेशवासीने एक भारतीय संत से भारतीय संस्कृति का स्वरूप जानना चाहा। उत्तर में उन्होंने यह कथा सुनाईः—

एक बन्दी कारागार से मुक्त होकर अपने घर जा रहा था। राह में एक बहेलिया मिला जिसके पास अनेकों सुन्दर पत्ती पिंजड़े में बिकने के लिये बंद रखे हुए थे। उसने बहेलिये से सबका मूल्य जानना चाहा। बहेलिये को आश्चर्य हुआ किन्तु उसने मूल्य बताया। तुरन्त ही बन्दी ने पूरा मूल्य चुका कर सब पत्तियोंको आकाश में उन्मुक्त छोड़ दिया। भारतीय संस्कृतिका आदर्श है—'स्वयं मुक्त होकर सबको मुक्त करना'। इस आदर्श का यही प्रमाण है कि प्राचीन भारत का व्यापारिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध मिस्र देशसे मेग्जिको पर्यन्त था, किन्तु उसने साम्राज्यविस्तार किंचित् भी करना उचित न माना। अपनी आध्यात्मिक मुक्ति उपलब्ध कर विश्व की मुक्ति के लिए भारतीय सचेष्ट हो जाता था।

---

३. मुमुक्षु जमनालालजी

(गतांग से आगे)

अत्यन्त सम्पन्न होते हुए वे त्यागवृत्ति से पूर्ण थे।

ऐसा बहुत कम देखने में आया करता है। उनमें धन के प्रति लोभ तो था ही नहीं, एक सीमा तक तिरस्कार का भाव भी था।

अपने शरीर सम्बन्धी खर्च में वे कृपण-से ही थे। उनका जीवन सीधा-सादा और सस्ता था। रसोई घर स्वादिष्टता की सामग्रियों से शून्य रहता था। मकान धर्मशाला की एक कोठरी थी। अन्तिम दिवसों में तो वे गोशाला में जाकर रहने लगे थे और अपने हाथ से गो-सेवा करते थे। प्रायः वे तीसरे दर्जे में यात्रा करते थे। उनकी मोटर सार्वजनिक सम्पत्ति-सी थी। उसे जो भी चाहे माँग ले जाय। वस्त्रों में थिग्गड़ लगवाकर भी वे पहनते रहते थे। ऐसे करोड़पति कम मिलेंगे।

मित्रों को भी वे सदा सादगी और कम खर्ची का उपदेश देते रहते थे। ईश्वर की दी हुई सम्पत्ति के वे अपने को केवल संरक्षक मानते थे। धन उनके लिये परोपकार का एक साधन मात्र था। उनका विश्वास था कि 'दैवी सम्पत् का स्थान सर्वोपरि है, धन का गौणी धन न हो तो भी उत्तम रीति से व्यवहार चल सकता है।' ईश्वर में उनकी अटूट श्रद्धा थी। "विधाता ने यही अर्थात् परोपकार के लिये धन का सृजन किया है। मनुष्य को उसका संरक्षक बना दिया है इसलिये मनुष्य को धन का उपयोग परोपकार में ही करना चाहिये, विलास में नहीं।" महाभारत के इस कथन का मर्म उन्होंने अच्छी तरह समझ लिया था। गाँधीजी ने यह ट्रस्टीशिप की कल्पना धनिकों

के सम्मुख रखी थी, किन्तु उसका पालन जमनालालजी ने ही किया। सुख-सामग्रियों में अपने लिये कृपण होते हुए भी वे परोपकार में अत्यन्त उदार थे। उनकी दान-वीरता को सभी जानते हैं, पर सहृदयता को कम लोग ही जानते हैं। किसी मित्र पर संकट आया देख वे यथेष्ट धन दे देते। ऊपर से कह देते, 'देखना तुम्हें कष्ट न हो। मेरा जो कुछ है सब तुम्हारा अपना ही समझना। भेद न मानना।' गाँधीजी को जब किसी योग्य कार्य के लिये सहायता करनी होती, तो झट जमनालाल के नाम साधारण-सी परची भेज देते। फिर जमनालाल देखते भी न थे कि यह दान आवश्यक या उचित है या नहीं। जमनालाल जी ने धन के प्रति जितनी उदासीनता दिखाई, लक्ष्मी ने कृपा करने की उतनी ही उत्सुकता।

वे सदा कर्मण्य रहे। न उनमें आलस्य था, न क्रोध। विषादभी उन्हें छू न गया था। वे स्नेह के सागर थे। आतिथ्य के लिये सदा उत्सुक रहते। मैत्री सदा निबाहते। उनमें विनय तथा सत्य के प्रति निष्ठा थी और व्यावहारिकता थी। स्वदेश-प्रेम उनका स्वभाव बन गया था। वे सेठ न थे; सेवक थे, साधु थे।

दान उन्होंने अनेकों दिये, किन्तु जो उनका पहला दान था और उससे उन्हें जो आनन्द आया उसकी तुलना नहीं। प्रति दिन उन्हें रुपया, आठ आने जेब खर्चके लिये पितासे मिलते थे, उसमें से बचा-बचाकर उन्होंने करीब एक सौ रुपये एकत्र किये थे। ये उन्होंने पूना के 'केसरी' को भेज दिये।

बातों ही बातों में एक समय लोकमान्य के विलायत जाने की चर्चा में अंग्रेज डी० यस० पी० ने कहा, "अच्छा हो, यह जहाज डूब जाय।" यह अफसर का ओछापन था, किन्तु जमनालाल जी को इसमें अपनी दुर्बलता अखर गई। राजनीति में सक्रिय भाग लेना उन्होंने, तब से, अपना कर्तव्य माना।

गाँधीजी के प्रति बिना देखे ही उनकी भक्ति दृढ़ हो हो गई। परिचय बढ़ने पर उन्होंने उनसे एक दान माँगा। "मुझे देवदास की नांई अपना एक-पाँचवाँ-पुत्र मान लीजिये।" सानन्द साश्चर्य गाँधीजी ने कहा, "तथास्तु।"

"राय बहादुर" की उपाधि सरकार ने दी। प्राप्त होते ही गाँधीजी से आशीर्वाद माँगा। आशीर्वाद मिला, "यह भयंकर वस्तु है। तुम इसका सदुपयोग कर सको। यह तुम्हारे आत्मोत्थान में सहायक बने यही मेरा आशीर्वाद है।"

परोपकार की वेदी पर ही रायबहादुरी का बलिदान हुआ। मारवाड़ी विद्यालय की स्थापना हुई। विद्यालय कमेटी की इच्छा कमिश्नर मार्किंग द्वारा उसका उद्घाटन कराने की थी। प्रार्थना का उत्तर मिला, 'वे उद्घाटन नहीं करना चाहते।' जमनालालजी ने कमिश्नर से कहा, 'नहीं उद्घाटन करना चाहते तो मैं क्या करूँ। आपकी खुशी की बात है।'...कमिश्नर ने जोर से टेबल पर हाथ पटक कर कहा, 'सरकार से रायबहादुरी मिलने के बाद ही आपने (नेताओं से) मिलना-जुलना शुरू किया है।"

ज०—"मैंने तो रायबहादुरी के लिये सरकार से कभी कहा नहीं। न किसी से कोशिश कराई, आपका ख्याल बिलकुल गलत है। मेरा नेताओं से सम्बन्ध बहुत पुराना है। आपके सी० आई०डी० ने रिपोर्ट नहीं दी तो डिपार्टमेंट की भूल है। जानना चाहें तो मैं अपने कागज़-पत्रों से साबित कर सकता हूँ।"

कमि०-"अच्छा, आप कलेक्टर से मिलकर समझौता कर लोजिये ॥"

ज०-"इसमें समझौते की तो कोई बात ही नहीं मालूम होती। जो नेता मेरे घर ठहरते आये, वे फिर भी ठहरेंगे। कितने सरकारी अफसर मैं जानता हूँ, जिनके आचरण ठीक नहीं हैं, जिनसे मुझे जर्रा भर भी प्रेम नहीं है। जब वे मेरे घर ठहरते हैं और उनसे सम्बन्ध रखना पड़ता है, तो जो लोग देश-सेवा करते हैं, जिनका चरित्र उत्तम है, उन्हें केवल राजनीतिक मतभेद के कारण न ठहरने दूँ—इसका तो कारण समझ में नहीं आता। वास्तव में यदि सरकार की यह इच्छा है तो यह बहुत ज्यादती है।"

दुःखी हृदय वे उठकर चले आये। कमिश्नर पर रोष न था, उसकी मनोवृत्ति पर क्लेश था। कमिश्नर ने भाँप लिया। कमिश्नर के भद्दे वर्ताव से सरकारी मेल-जोल में उन्हें नितान्त निराशा जान पड़ी। सरकार के प्रति उनका मोह टूट गया। पूर्व पश्चिम में मेल न रह सका। १९२० में उन्होंने कांग्रेस में पूर्ण प्रवेश लिया। १९२१ में अपनी "राय बहादुरी" की उपाधि सरकार को वापस लौटा दी।

घर में ही उन्होंने जेल-जीवन का अभ्यास किया। नागपुर में झंडा-सत्याग्रह की अग्नि भभक उठी। लाठी चली। सत्याग्रह-संचालन का भार प्रारम्भ से उन्हीं पर आया और उन्होंने उसे उत्तम रूपसे निबाहा। सरकार का रुख कठोर होता चला। इधर अन्य प्रान्तों से सत्याग्रही आकर सम्मिलित होने लगे। १२०० जेल जा चुके थे। फिर भी ताँता जारी रहा। जमनालाल भी गिरफ्तार हुए। साथ ही २२० अन्य सत्याग्रही भी। मुकदमें को लम्बा कर अन्त में उन्हें १८ मास की कड़ी कैद की सज़ा दी गई। अब सरदार पटेल ने नेतृत्व सँभाला। श्रीमती कस्तूर-बा। गाँधी भी स्त्रियों का बड़ा समूह लेकर सत्याग्रह में सम्मिलित होने आईं। अब सरकार की आँखें खुलीं। पाँच महीने बाद सरकार ने हार मानी। बिना रोक सि-विल लाइन्स में झंडा-जुलूस निकला। सब कैदी छूट गये।

जमनालालजी का महत्त्व कांग्रेस की दृष्टि में बढ़ गया। वे वर्किंग कमिटी में लिये गये जहाँ वे जीवन भर रहे। १९३० के सत्याग्रह में पुनः जेल गये। जय पुर सत्याग्रह भी उनके नेतृत्व में चला।

गाँधीजी के रचनात्मक कार्यों में उनका सर्वत्र न्यूना-धिक सहयोग रहा। गाँधीजी को वे ही सेवाग्राम लाये। विनोबा को वे ही वर्धा लाये। गाँधीजी के निकट उन्हें सह-वास का लाभ मिला और समस्त वर्धा के रचनात्मक कार्यों का भार।

स्वास्थ्य बिगड़ने पर गाँधीजी ने उन्हें विश्राम की सलाह

दी। पर उनके लिये विश्राम कहाँ ? अन्तिम दिनों उन्होंने राजनीतिक प्रवृत्तियों से दूर हो गो-सेवा का निश्चय लिया, किन्तु वे जिसमें पड़ते पूरी लगन से। खाते-पाते उठते-बैठते अब गो-सेवा की ही लगन लग गई। गोशाला में ही फूस की झोपड़ी बना, संन्यासी की भाँति रहने लगे।

एकादशी को उनका स्वर्गवास हुआ। सन्ध्याकाल में अन्तिम जुलूस निकला। शव पर गाँधीजी के ओढ़ने की चादर थी। कांग्रेसी स्वयं-सेवक बन्देमातरम् कहते चले। स्त्रियों ने रामधुन गोपालधुन लगाई। साथ गाँधी जी भी थे। माँ जानकी देवी ने गाँधी जी को भजन करने को कहा। कोई रोता न था। अमतुस्सलाम कुरान से फातिहा कहने लगीं। बाद में विनोबा ने वेदपाठ प्रारम्भ किया। तत्पश्चात् उन्होंने गीता का नवम अध्याय कहा। गाँधीजी ने उनसे तुकाराम के अभंगों का पाठ करने के लिये कहा। ईश्वर-ध्यान में सब मग्न थे, मानों यह श्मशान नहीं, अग्निहोत्र था। कीर्तन में सब मस्त थे। न संताप, न विलाप, न विषाद। परचुरे शास्त्री लाठी लिये वेदपाठ करने आगे बढ़े। जमनालाल जी के तीव्र, प्रकाश-मान जीवन की नाईं उनकी चिता भी तीव्र और प्रकाशमान थी। वेदगान समाप्त हुआ। गोपुरी की उनकी गाय रँभाने लगी। पुनः सन्नाटा छा गया। एक तेजस्वी कर्म योगी को परमात्मा ने अन्यत्र कहीं नियुक्ति के लिये भेज दिया।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

—डा० त्रेतानाथ जी तिवारी द्वारा संकलित।

श्री विश्वेश्वर प्रेस, बुलानाला, वाराणसी।

विवेकानन्द-ग्रन्थावली

सचित्र आकर्षक गेट-अप

	मूल्य
भारत में विवेकानन्द (भारतीय व्याख्यान) —	५.००
देववाणी (अमरीकी शिष्यों को दिये गए उपदेश)	२.७५
पत्रावली (विवेकानन्दजी के स्फूर्तिदायक पत्र)	
" " — प्रथम भाग	५.२५
पत्रावली " " — द्वितीय भाग	४.२५
विवेकानन्दजी के संग में —	५.२०
महापुरुषों की जीवनगाथाएँ —	१.५०
जाति, संस्कृति और समाजवाद —	१.२५
विवेकानन्दजी की कथाएँ —	१.६०
स्वाधीन भारत ! जय हो ! —	१.५०
परिव्राजक (मेरी भ्रमण कहानी) —	१.५०
आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग —	१.६०
स्वामी विवेकानन्दजी से वार्तालाप —	१.३७
व्यावहारिक जीवन में वेदान्त —	१. ५
हिन्दू धर्म के पक्ष में —	०.७५
विवेकानन्दजी के सान्निध्य में —	०.६०
भगवान् रामकृष्ण, धर्म तथा संघ —	०.८७
कर्मयोग — १.४० भक्तियोग —	१.५०
राजयोग — १.६० ज्ञानयोग —	३.५०
प्रेमयोग — १.३७ सरल राजयोग —	०.५०

हिन्दू धर्म	— १.५०	धर्मरहस्य	१.२५
धर्मविज्ञान	— १.६२	शिकागो वक्तृता मूल्य	०.६२
विविध प्रसंग	— १.१२	प्राच्य और पाश्चात्य	१.२५
मेरे गुरुदेव	— ०.६२	चिन्तनीय बातें	१.००
शिक्षा	— ०.८५	भारतीय नारी	०.७५
कवितावली	— ०.६२	मेरा जीवन तथा ध्येय	०.५०
पवहारी बाबा	— ०.६०	हमारा भारत	०.६५
वर्तमान भारत	— ०.५०	ईशदूत ईसा	०.४०
मरणोत्तर जीवन	— ०.५०	मन की शक्तियाँ	०.४०

विवेकानन्दजी के उद्गार (पॉकेट साइज) — ०.६५

शक्तिदायी विचार (") — ०.६५

मेरी समर नीति (") — ०.६५

विवेकानन्द चरित—सत्येन्द्रनाथ मजुमदारकृत —६.००

श्रीरामकृष्ण-साहित्य

सचित्र आकर्षक जैकेट-सहित

श्रीरामकृष्णलीलामृत—विस्तृत जीवन चरित्र, महात्मा गांधी द्वारा भूमिका सहित, दो भागों में, प्रत्येक भाग का ५.००

श्रीरामकृष्णवचनामृत—'म' कृत श्रीरामकृष्णदेव के अमृतमय उपदेशों का अपूर्व संग्रह तीन भागों में पूर्ण, प्रथम भाग — ६.५०

द्वितीय भाग — ६.००

तृतीय भाग — ७.००

श्रीरामकृष्ण उपदेश—स्वामी ब्रह्मानन्द द्वारा
संकलित, पॉकेट साइज, ०.७५

मां सारदा—श्रीरामकृष्णदेव की लीलासहधर्मिणी की
विस्तृत जीवनी, स्वामी अपूर्वानन्दकृत, मूल्य ४.५०

रामकृष्ण—संघ--आदर्श और इतिहास--स्वामी
तेजसानन्दकृत (पॉकेट साइज) ०.७५

धर्म-प्रसंग में स्वामी शिवानन्द--श्रीरामकृष्णदेव के
अन्तरंग संन्यासी शिष्य द्वारा धर्म के गूढ़ तत्त्वों
पर वार्तालाप, दो भागों में, प्रत्येक भाग का २.७५

परमार्थ प्रसंग--स्वामी विरजानन्दकृत,
आर्ट पेपर पर छपी हुई, ३.२५

साधु नागमहाशय—श्रीकृष्णदेव के अन्तरंग
गृही शिष्य का जीवनचरित, १.५०

गीतातत्व--स्वामी सारदानन्दकृत, २.८०

भारत में शक्तिपूजा-- " १.२५

वेदान्त—सिद्धान्त और व्यवहार-
स्वामी सारदानन्दकृत, ०.५०

पुस्तक मिलने का पता--

विवेकानन्द आश्रम

ग्रेट ईस्टर्न रोड, रायपुर (म० प्र०)